साना निबन्ध

सात निबन्ध

सम्पादक

डॉ० रघुवंश

भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव

रीडर, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

विश्वविद्यालय प्रकाशन, बाराणसी

अनुक्रम

●

निबन्ध : रूप और सर्जनशीलता

किसी भी भाषा में ऐसे अनेक शब्द होते हैं जिनका व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है, पर साथ ही उनसे निश्चित सन्दर्भ में पारिभाषिक अर्थ लिया जाता है। जब हम सामान्य व्यवहार के स्तर पर शब्द विशेष का प्रयोग करते हैं, तब उसके सन्दर्भ के अनुसार कई अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। पर जैसे ही शब्द का प्रयोग पारिभाषिक सीमा में आया उससे विशिष्ट अर्थ व्यंजित हो जाता है। स्वतः साहित्य शब्द को लें, साहित्य व्यापक अर्थ में जो भी लिपिबद्ध भाषा में ज्ञान संगृहीत है, वह सारा साहित्य है। हम विज्ञान का साहित्य, धर्म का साहित्य, दर्शन का साहित्य, नीति का साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र का साहित्य आदि कहते हैं। स्पष्ट है, इनसे विभिन्न ज्ञान के क्षेत्रों में लिपिबद्ध ज्ञान का अर्थ लिया जाता है। परन्तु जब हम साहित्य का विशिष्ट सन्दर्भ में प्रयोग करते हैं, तब उसका स्पष्टतः अर्थ रचनात्मक साहित्य होता है।

इसी प्रकार निबन्ध की स्थिति है। निबन्ध का शब्दार्थ कुछ भी हो, पर आज यह शब्द साहित्य में 'ऐसे' के पर्याय (अनुवाद) के रूप में स्वीकारा गया है और इसका प्रयोग भी एक व्यापक रूप में होता है और दूसरा विशिष्ट पारिभाषिक रूप में। किसी विषय, प्रसंग और परिस्थिति का व्यवस्थित विवरण जो अपेक्षाकृत संक्षिप्त हो उसे निबन्ध कहते हैं। पर साहित्य के निश्चित सन्दर्भ में 'निबन्ध'—'ऐसे' के समान सर्जनात्मक साहित्य का एक रूप (Form) है, और इस विधा का अपना विशेष स्वरूप और अपनी शैली होती है। साथ ही इसमें अनुभव को अभिव्यक्त करने का एक खास स्तर होता है। अगर रचनात्मक दृष्टि से कोई केन्द्रीय तत्व निबन्ध को रेखांकित करता हो, तो रचनाकार की निजता को माना जा सकता है। और इस दृष्टि से प्रगीति काव्य के इस केन्द्रीय तत्त्व के आधार पर निबन्ध को इस काव्य-रूप के साथ रखकर देखना संगत जान पड़ता है।

जिस प्रकार रोमाण्टिक युग में मानवीय मूल्यों के प्रति व्यक्ति की आस्था अपनी निजता को जागरूकता के रूप में परिलक्षित होती है, उसी प्रकार इन नये मूल्यों के प्रति दायित्व-बोध का अनुभव आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रगीति काव्य और निबन्ध जैसे साहित्य-रूपों में देखा जा सकता है। यह आकस्मिक नहीं है कि सोलहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण-काल के व्यापक परिवेश में यूरोप की सर्वाधिक संवेदनशील भाषा फ्रेंच के एक लेखक माइकेल दि मौन्तेन ने 'एसे' जैसे एक गद्य

साहित्य-रूप को विकसित किया। व्यक्ति-प्रधान और आत्माभिव्यक्तिपरक काव्य रूप 'लिरिक' का प्रचलन यूरोप में यूनानी-रोमीय कालों में रहा है। पर ये रचनाएँ गहरे और आन्तरिक भाव-बोध की नहीं थीं। इनमें सहज स्थितियाँ, सामान्य मनःस्थितियाँ और व्यापक भावनाएँ मात्र अभिव्यक्त होती थीं। उसके बाद तो भजन, प्रार्थना और गीतों के रूप में इनका प्रचलन रहा। यह तो १६वीं शती के पुनर्जागरण के साथ व्यक्ति की स्वाधीनता के विचार, व्यक्तित्व के महत्त्व, मानवीय मूल्यों के स्रोत के रूप में ईश्वर के स्थान पर मानव की प्रतिष्ठा का युग प्रारम्भ हुआ और उसके व्यापक, स्वच्छन्द, सहज, सरल, सघन और आन्तरिक अनुभव को एक ओर गद्य-रूप 'एसे' (निबन्ध) में। इस प्रकार के अनुभव को अनेक सन्दर्भों में रूपायित किया गया। मौन्तेन ने इस साहित्य-विधा का विकास व्यक्तित्व की निजता की स्वच्छन्द, मुक्त और अतर्कित अभिव्यक्ति के रूप में किया है। रचनाकार व्यापक जगत् में आत्मनिक्षेप के माध्यम से अनुभूत सत्यों की खोज करता है।

गद्य की इस विधा में रचना की प्रयोग-धर्मिता आरम्भ से स्पष्ट है। मौन्तेन जीवन और जगत्, इतिहास और पुराण, प्रत्यक्ष और कल्पना को मनमाने ढंग से अपने निबन्धों में सँजोता है। यह सँजोना अस्तव्यस्त, विश्रृंखल और अतर्कित जान पड़ता है। पर विशेषता है कि इस सारी अव्यवस्था और बिखराव में एक रचनात्मक स्तर का संयोजन बना रहता है। प्रगीति काव्य की स्वच्छन्दता, कल्पनाशीलता रचनाकार के व्यक्ति को लय में एकतान संयोजित संघटित होकर अभिव्यक्ति ग्रहण करती है। यह स्वरों की लय हो अथवा भाव-व्यंजना की। इस अन्तर का कारण है। प्रगीति काव्य में कवि का व्यक्तित्व जगत् से प्रतिक्रिया-शील होता है और उसके अपने सम्बन्ध के वृत्त में जितना अनुभव-जगत् आ पाता है, वही उसकी आत्माभिव्यक्ति का रूप बन पाता है। पर निबन्ध में चतुर्दिक् का सारा परिवेश रचनाकार के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालता है और इन सारे अनुभवों को उसके नानाविध सम्बन्धों-सन्दर्भों के साथ अपने व्यक्तित्व के माध्यम से वह अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कहा जा सकता है कि यूरोप में आधुनिक युग की शुरुआत के साथ युग-परिवेश, जीवन-जगत्, मानवीय समाज और मानवीय व्यक्तित्व के प्रति विशेष जागरूकता परिलक्षित हुई। निबन्ध इस विशेष मानसिकता में रूप ग्रहण कर सका है। मौन्तेन और उसके निबन्ध इसके साक्षी हैं।

अंग्रेजी में अब्राहम काउले ने साहित्य की इस आधुनिक विधा को फ्रांस की परम्परा में विकसित किया, जिस पर मौन्तेन का प्रभाव है। व्यक्तिनिष्ठ और

आत्मीय अभिव्यक्ति को चिन्तनपरक तार्किकता के साथ इनके निबन्धों में देखा जा सकता है। उसका दृष्टिकोण है कि जिस व्यवहार जगत् में हम विचरण करते हैं उसकी विभिन्न परिस्थितियों में अनेक पात्रों के साथ हमारी आकर्षक बातचीत और तर्क-वितर्क निबन्ध का रूप ग्रहण कर लेता है। परन्तु अंग्रेजी के सक्षम निबन्धकार फ्रांसिस बेकन ने माइकेल मौन्तेन से स्वतंत्र रूप में निबन्ध का रूप विकसित किया है। उनकी शैली में सहज और सीधे प्रभाव डालने का भाव अधिक है और सामान्य जीवन-जगत् अनुभवों से ग्रहण की गयी उक्तियों का वैचित्र्य है। इन दोनों श्रेष्ठ निबन्धकारों को इस साहित्यिक विधा के दो ध्रुव माना जा सकता है। एक में जीवनगत अनुभवों की स्वच्छन्द एवं मुक्त अभिव्यक्ति है और दूसरे में जगत् के अनुभवों से ग्रहण किये गये ज्ञान की अभिव्यक्ति उक्तियों के वैचित्र्य में है। आन्तरिक स्तर पर अपनी शैलियों में भिन्न होते हुए भी दोनों रचनाकार अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता और प्रभाव की संघटनशीलता में समान हैं।

साहित्यिक विधा के रूप में निबन्ध का प्रारम्भ फ्रांस में हुआ, पर उसका विकास अंग्रेजी साहित्य में अधिक देखा जा सकता है। संभवतः इस विधा का जितने विविध रूपों में विकास हुआ, उतना किसी अन्य का नहीं। चरित्रों का रेखांकन, परिस्थितियों का प्रभावी वर्णन, हास्य, व्यंग्य, टिप्पणी आदि सभी का समाहार निबन्ध में होता गया है। जान एर्ले जैसे चरित्र के रेखांकन करनेवाले निबन्धकार प्रारम्भ में अंग्रेजी में हुए। उसके बाद ही स्टील और एडिसन जैसे प्रभावी और समर्थ निबन्धकार अंग्रेजी में हुए, जिनकी समकक्षता कोई नहीं कर सका। यहाँ यह उल्लेख करना जरूरी है कि निबन्ध के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इन प्रमुख निबन्धकारों के नाम से जुड़े हुए 'टेटलर' और 'दि स्पेक्टेटर' जैसे अंग्रेजी के पत्र हैं, जिन्होंने अपने समय में तहलका मचा दिया था।

अपनी व्यंग्यात्मक, हास्य और कटाक्ष-प्रधान, स्वच्छन्द, मौजभरी, सैलानी और उक्तिमयी शैलियों के साथ अंग्रेजी के अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्धकारों के नाम सामने आते हैं। सेमुअल जॉनसन यद्यपि प्रमुखतः निबन्धकार नहीं हैं, पर उक्ति की गम्भीरता और गहरे कटाक्ष की दृष्टि से उनके निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। आलिवर गोल्डस्मिथ अपने व्यक्तित्व में स्वच्छन्द और मुक्त हैं, उनकी यायावरी वृत्ति प्रकृति के आकर्षण के साथ उनके निबन्धों में अभिव्यक्त है। लैम्ब का व्यक्तित्व सहज और मुक्त है जो उनके निबन्ध की शैली में व्यक्त है। हैज़लिट में खास तरह की गम्भीरता मौजीपन के साथ चरित्रों और परिस्थितियों के माध्यम से अभिव्यक्त है। कॉलरिज और डि क्युन्सी जैसे निबन्धकारों में चिन्तन की

स्वच्छन्दता के साथ कवित्व और कल्पना का योग भी है। कार्लायल और रस्किन में अपने परिवेश के सन्दर्भों के साथ सामाजिक समस्याओं तथा मूल्यों का वैचारिक ऊहापोह है। मैथ्यू आर्नल्ड तथा पेटर ने साहित्य-चिन्तन और साहित्य के मूल्यों का समावेश प्रभावोत्पादक शैली में किया है। स्टीवेन्सन (राबर्ट ल्युस) में स्वच्छन्द और मुक्त चिन्तन, परिवेश के प्रति भावशीलता और संवेदनशीलता मिलती है। पश्चिम में आधुनिक युग तक निबन्ध का विविध रूपों में प्रचलन रहा है। उसके रूप के वैविध्य के साथ उसके तत्त्वों और शैलीगत विशेषताओं को अनेक साहित्य-रूपों में विकसित देखा जा सकता है। संस्मरण, स्मृति-चित्र, रेखांकन, डायरी आदि साहित्य के रूपों का निबन्ध से निकट का सम्बन्ध है।

उल्लेख किया गया है कि निबन्ध का साहित्यिक विधा के रूप में विकास आधुनिक युग की पूरी मानसिकता से सम्बद्ध है। विशेषकर पुनरुत्थान और पुनर्जागरण-काल में जीवन में जो नया और मुक्त उन्मेष आया था, निबन्ध उससे भाव के स्तर पर जुड़ा हुआ है। हिन्दी में निबन्ध का विकास उन्नीसवीं शती के इसी आधुनिक जागरण से माना जाता है। पश्चिम के संघात से भारतीय जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसे ज्ञान-विज्ञान का नया प्रकाश मिला। पुराने समाज की कुंठाएँ और जकड़न स्पष्ट होने लगीं और नये मानवीय मूल्यों की ओर ध्यान गया। हिन्दी में साहित्यकार का ध्यान इस नयी परिस्थिति में नये मानव-मूल्यों की ओर गया। उसके मन में मुक्ति का स्वच्छन्द भाव जागा, अपने पूरे परिवेश से प्रतिक्रियाशील हुआ और कल्पना से स्फुरित हो गया। इस मानसिकता की अभिव्यक्ति के लिए निबन्ध सबसे उपयुक्त साहित्यिक रूप था।

भारतेन्दु युग की परिस्थिति इस विधा के विकास के लिए अनुकूल थी। लेखक अपने पूरे परिवेश से जुड़ा हुआ था, वह सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति से प्रतिक्रियाशील हुआ और उसमें नव-जागरण की चेतना थी। अतः उसने अपने अनुभव और चिन्तन को इस व्यापक प्रतिक्रियाओं के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की। इस अभिव्यक्ति को निबन्ध का रूप मिला। प्रेस और पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार के साथ निबन्धों का प्रसार अधिक हुआ, क्योंकि इस विधा में पाठक के साथ आत्मीय स्तर की निकटता सहज स्थापित हो जाती है। इस प्रारम्भिक युग में लेखक का मन उद्वेलित था, वह परिस्थिति से प्रतिक्रियाशील था, अतः उसके निबन्धों की शैली सीधी, सरल और प्रभावोत्पादक थी। उसका हास्य और व्यंग्य परिस्थिति से अधिक सम्बद्ध था।

अगले द्विवेदी युग में एक ओर परिस्थिति की जागरूकता बढ़ी और दूसरी ओर सांस्कृतिक स्तर पर अपने प्राचीन इतिहास की ओर ध्यान गया। साहित्य

के दायित्व के बारे में नये ढंग से सोचा जाने लगा। इस स्तर पर निबन्धों में चिन्तन की तार्किकता, परिस्थिति का ऊहापोह, संस्कृति की परम्परा के प्रति आकर्षण और व्यंग्य की गहनता आती गयी है। इन निबन्धकारों ने परिवेश के साथ प्राचीन सांस्कृतिक सन्दर्भों को जोड़ कर परम्परा को नया अर्थ देना चाहा और नये मूल्यों को अपनी परम्परा से जोड़ने का उपक्रम किया। क्रमशः गद्य की रचना-शैली में विविधता आती गयी। छायावादी युग में गद्य-शैली रचना के कई प्रकार विकसित हुए; जिन्हें मूलतः निबन्ध की प्रकृति और भाव-व्यंजना से जुड़ा मानना चाहिए। साथ ही निबन्ध-लेखन अन्य प्रतिष्ठित विधाओं के साथ प्रायः रचनाकारों ने अपनाया है, अतः केवल निबन्धकार इस युग में नहीं मिलेगा।

पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलन के साथ निबन्ध का विकास कई शैलियों में हुआ, साथ ही उससे अन्य साहित्य-रूपों का विकास हुआ। रेडियो के माध्यम ने इस प्रवृत्ति को अधिक प्रोत्साहित किया। संस्मरण, स्मृति-रेखाएँ रेखा-चित्र, यात्रा, डायरी, पत्र आदि कई रूपों में इस विधा का विस्तार देखा जा सकता है। इन सभी रूपों में सहज और शैली की स्वच्छन्दता, मुक्ति, प्रभावशीलता, विशिष्ट तार्किकता, हास्य-व्यंग्य का संस्पर्श, वैयक्तिक आत्मीयता आदि प्रवृत्तियाँ अन्तर्भुक्त हो गयी हैं। निबन्ध के अन्तर्गत पूरा परिवेश शुरू से समाहित रहा है, कोई ऐसा विषय नहीं, कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, कोई ऐसी समस्या नहीं, कोई ऐसा देश-काल नहीं और इतिहास-पुराण कुछ भी नहीं जो निबन्ध की परिधि में न आता हो। केवल निबन्ध में यह सब निजता, आत्मीयता, भावशीलता के साथ ऐसा संश्लिष्ट रूप ग्रहण करता है जो अपनी तार्किकता में विशिष्ट होता है।

परिवेश को किस रूप तथा स्तर पर लिया गया और किस शैली में उपस्थित किया गया है, इसके आधार पर निबन्धों के भेद किये जा सकते हैं और उन्हें प्रकारों में बाँटा जा सकता है। निबन्धकार अपने समाज को पूरी परिस्थिति से प्रतिक्रियाशील हो सकता है, और अपने निबन्धों में सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं को अभिव्यक्त करता है। उसकी शैली में वर्णन की प्रभावोत्पादकता, परिस्थितियों के व्यंग्य, चरित्रों की यथार्थता तथा विसंगतियों को उजागर किया जाता है। लेखक पाठकों को इन सबका अनुभव इस प्रकार कराता है कि वह सहज ही पूरे परिवेश को अपना लेता है। इस प्रकार निबन्ध समस्या के बल के अनुसार सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा समसामयिक हो सकता है। इसी प्रकार उसकी विवेचन-विश्लेषण, प्रभाववादी, भावव्यंजक अथवा व्यंग्य की शैली हो सकती है।

अन्य कोटि के निबन्धों में पूरा सांस्कृतिक परिवेश आ जाता है। ऐसे निबन्ध मूल्यों को कई स्तरों पर अभिव्यक्ति देते हैं। परम्परित मूल्यों के साथ नये मूल्यों की टकराहट, विजड़ित मूल्यों का गतिरोध, नये सन्दर्भ में नये मूल्यों का संघर्ष आदि पूरे सांस्कृतिक वातावरण के साथ इन निबन्धों में व्यंजित होते हैं। यहाँ प्राचीन संस्कृति की सम्पन्नता और गरिमा के वर्णन पूरे साहित्यिक सन्दर्भों के साथ मिलेंगे। आत्मीयता के भावशील स्तर के कारण निबन्धकार अपने धर्म, दर्शन, साहित्य और अपनी साधना की समृद्ध परम्परा का भरपूर उपयोग करता है। पर आज का निबन्धकार संवेदनशील रचनाकार होने के नाते परम्परा और उसके जड़ मूल्यों के प्रति अन्ध-मोह नहीं रखता। वह उन्हें नये सन्दर्भ में तोड़ता है। यह कार्य भारतेन्दु युग के बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त ने अपने स्तर और ढंग से किया; पद्मसिंह शर्मा और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी ने अगले युग में अपनी शैली और अपने सन्दर्भों में किया। हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र तथा कुबेरनाथ राय आदि ने क्रमशः सांस्कृतिक परम्परा और परिवेश का अपने-अपने ढग से प्रयोग किया है। प्राचीन साहित्य से परिचित होने के कारण एक ओर उन्होंने उसके सांस्कृतिक अन्तःसन्दर्भों का प्रभूत मात्रा में उपयोग किया है, दूसरी ओर उनमें आधुनिक प्रसगों एवं परिस्थितियों को जोड़ कर नयी अर्थवत्ता उत्पन्न करने की क्षमता भी है।

कुछ निबन्धकारों के केन्द्रबिन्दु में साहित्य रहता है। वे बाहरी परिवेश की अपेक्षा साहित्य के व्यापक परिवेश से प्रतिक्रियाशील होकर कल्पना और चिन्तन के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। साहित्य में रचना के स्तर पर जीवन-जगत् के सभी पक्ष समाहित होते हैं। अतः ये निबन्धकार भी जीवनगत परिवेश में ही विचरण करते हैं, पर साहित्य उनका माध्यम होता है। साहित्य का विवेचन करना दूसरी बात है, साहित्य की रचनाओं का मूल्यांकन करना दूसरी बात है और साहित्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना भी दूसरी बात है, पर साहित्य को लेकर निबन्ध लिखना बिल्कुल अलग बात है। पुनः निबन्धकार साहित्य को जीवन से, उसके नानाविध अनुभवों से जोड़कर देखता है। इसी कारण वह साहित्य की रचनाशीलता से, उसके अनुभव-जगत् से, उसके पात्रों और परिस्थितियों से, उसके संवेदनशील वातावरण से प्रतिक्रियाशील होता है। वह अपनी समस्त प्रतिक्रियाओं को पुनः आत्मीय सहज ढंग से अभिव्यक्त करता और इस अभिव्यक्ति में पाठक लेखक के साथ एकरस एकतान हो जाता है। उसे तर्कों और विवेचन-पद्धति का एहसास नहीं होता, वह रचना का अनुभव नाना सन्दर्भों में करता है, जिन्हें निबन्धकार अपनी ओर से प्रस्तुत करता है। रामचन्द्र शुक्ल, महादेवी वर्मा और निर्मल वर्मा जैसे लेखकों की रचनाओं में इसका आस्वाद लिया जा सकता है।

निबन्ध के रूपों, प्रकारों एवं शैलियों के बारे में अन्तिम रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। यह तो उसकी मूल प्रवृत्ति के कारण है। जिसका मूल स्वर स्वच्छन्द और मुक्त रहने का है और जो अपनी तार्किक विशेषता में सहज और आत्मीय है, उसकी कोटियों का निर्धारण सामान्य ढंग से ही हो सकेगा। निबन्धकार न केवल अनेक शैलियों में लिखता है, वर्णन, विवरण, चिन्तन, भावशील, आत्मकथन, संस्मरण, डायरी, पत्र आदि शैलियों में, वरन् अनेक का संयोजन एक साथ भी करता है। इसी तरह उसका 'मूड' एक निबन्ध में बदलता रह सकता है, और उसके अनुसार शैलियों में अन्तर आ सकता है। वह कहीं गम्भीर हो सकता है, कहीं हल्का, कहीं सहज, कहीं व्यंग्यात्मक और क्रमशः निबन्ध में इनके अनुसार शैलियाँ भी बदलती है। यह अवश्य है कि इधर अन्य साहित्य-रूप इतने प्रतिष्ठित और महत्त्वपूर्ण हो गये हैं कि केवल निबन्धकार के रूप में कम लेखक जाने जाते हैं।

निबन्ध : ऐतिहासिक विकास का परिप्रेक्ष्य

निबन्ध गद्य की वह महत्त्वपूर्ण विधा है जिसका हिन्दी में आरंभ भारतेन्दु युग के साथ हुआ। राष्ट्रीय जागरण, जनसमस्याओं की चेतना, अंतर्राष्ट्रीयता, वैज्ञानिकता के लिए आकर्षण, गद्य का प्रचलन, मुद्रणकला का प्रचार और विकास, समाचारपत्रों का प्रकाशन जैसे अनेक कारण निबन्ध के आविर्भाव में सहायक हुए। भारतेन्दु युग मुख्यतः पत्र-पत्रिकाओं का युग है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'हिन्दी प्रदीप', 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन', 'भारतमित्र', 'ब्राह्मण' आदि पत्रों के अभाव में निबन्ध जैसे गद्य-रूप के विकास की कल्पना नही की जा सकती। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि निबन्ध भारतेन्दु युग की केन्द्रीय विधा भी है—जैसा फिर किसी दूसरे युग में नहीं हुआ—और उसकी अंतश्चेतना का प्रभाव कहानी, उपन्यास जैसे अन्य गद्य-रूपों पर भी दिखाई देता है। विधाओं की अन्तर्निर्भरता की दृष्टि से यह भी देखा जा सकता है कि निबन्ध के अपने रूप पर दूसरे गद्य-रूपों की जहाँ-तहाँ छाया मौजूद है। कथात्मक निबन्ध और निबन्धात्मक कहानियाँ भारतेन्दु युग की संवेदना की अनुरूपता में अपनी पहचान बना सकी हैं।

निबन्ध का रूप और आकार शुरू-शुरू में अगर अस्थिर दिखाई देता है तो उसका कारण निबन्ध की माँग पर पड़नेवाले बहुपक्षीय दबाव हैं। यह बहुपक्षीय चेतना या जागरूकता भारतेन्दु युग के लेखकों का अपना स्वभाव है। भारतेन्दु युग के निबन्धकारों में भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालमुकुन्द गुप्त, जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवास दास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। व्यंग्य-विनोद से लेकर सामाजिक चिन्ताओं तक इनके निबन्धों का विषय-क्षेत्र फैला हुआ है। 'निबन्ध' को अंग्रेजी 'एसे' (Essay) की परम्परा में देखना उचित ही है जिसमें सहज उन्मुक्तता, आत्मीयता के साथ ही एक विशिष्ट अन्तर्गठन की कल्पना की गयी है। पर पाठक अनुभव करेंगे कि भारतेन्दु युग के निबन्ध अपनी स्वतंत्र स्वधर्मी विशिष्टता का सहज प्रमाण देते हैं। उनमें अपने ढंग की जिन्दादिली, स्फूर्ति, विदग्धता और अपने ही ढंग का अनगढ़पन (जो केवल भाषागत अपरिपक्वता का लक्षण नहीं है) मौजूद है। 'राजा भोज का सपना' (राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द), 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र), 'यमलोक की यात्रा' (राधाचरण गोस्वामी), 'आप' (प्रतापनारायण मिश्र)—ये एक

ही तरह के निबन्ध नहीं हैं पर ये सभी अपने तरीके से अपने युग की संवेदना का रोचक साक्ष्य बन पड़े हैं। अपने युग के पाठकों से इन्हें एक तरह का संवाद करते देखा जा सकता है। एक नये विचार-धर्म अथवा मानव-धर्म के प्रचार की आवश्यकता के अनुरूप इस युग में 'निबन्ध' का स्वरूप काफी लचीला है। ठोस स्वायत्तता की तुलना में यह जीवन्त लचीलापन भारतेन्दु युग के निबन्धों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

'राजा भोज का सपना' सीधे-सादे ढंग से इस विडम्बनापूर्ण रहस्य को उद्‌घाटित करता है कि भोज ने मंदिर बनाकर ईश्वर की जो प्रतिमा स्थापित की थी, वह ईश्वर की न होकर अपनी ही प्रतिमा थी। स्वप्न और सत्य के भेद से जो व्यंग्यार्थ उभरता है वह बहुत ही बेलाग दिलचस्प तरीके से कहा गया है। गंभीरता और हास्य के मिले-जुले उपयोग के कारण भारतेन्दु के निबन्धों की प्रभावक्षमता कहीं अधिक है। 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' का व्यंग्य कई स्तरों पर सीधी चोट करता है और संस्थाओं के दुरुपयोग तथा शोषण की धज्जियाँ उड़ाता है। कुछ आश्चर्य नहीं कि शिक्षा की व्यावसायिकता के उत्तरोत्तर बढ़ाव वाले दौर में भारतेन्दु का यह निबन्ध हमारे युग की शिक्षा-स्थिति की भी एक सटीक आलोचना है। 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन' निबन्ध-शैली में कथातत्त्व के अनोखे उपयोग की दृष्टि से भारतेन्दु का एक अन्य दिलचस्प प्रयोग है। इनसे अलग विचारात्मक, भावात्मक और आत्मव्यंजक जैसे निबन्धरूप भी अपने आरंभिक रूप में भारतेन्दु के यहाँ मिल जायेंगे। यह केवल संयोग नहीं है कि इस युग का एक अन्य चर्चित निबन्ध 'यमलोक की यात्रा' एक अनोखे ढंग से लिखा गया स्वप्नवृत्तांत ही है। यद्यपि इसका व्यंग्य अधिक सीधा और लक्ष्यात्मक है।

बालकृष्ण भट्ट निबन्ध की आत्मा को पहचाननेवाले पहले हिन्दी लेखक कहे गये हैं जिनका परिचय एडीसन जैसे अंग्रेजी निबन्धकारों से भी रहा है और मराठी जैसी भारतीय भाषाओं में प्रचलित निबन्ध-रूप से भी। 'आँख', 'कान', 'बातचीत', 'आँसू' जैसे विषयों पर भावात्मक अंतरंगता और मनोवैज्ञानिक या व्यावहारिक समझ के साथ लिखे गये निबन्धों के अतिरिक्त भट्ट जी ने 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है', 'शब्द की आकर्षण शक्ति' जैसे गंभीर साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है'—जैसा शीर्षक ही निबन्ध-लेखक की नयी दृष्टि का परिचायक है। इधर के समीक्षक तो यहाँ तक मानने लगे हैं कि शुक्ल जी की विधेयवादी आलोचना-दृष्टि बालकृष्ण भट्ट की ही दृष्टि का विकास है। यह कहने की

आवश्यकता रह जाती है कि भट्ट जी गंभीर स्वभाव के ही व्यक्ति थे और उनमें वह फक्कड़पन या सैलानीपन नहीं था जिसकी चर्चा भारतेन्दु के व्यक्तित्व-स्मरण के साथ की जाती है। भट्ट जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों में भी वैचारिक तीक्ष्णता और स्पष्टता है जिसकी विकास-परम्परा में शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध देखे जाते हैं। प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध 'दाँत', 'भौं', 'बेगार', 'धोखा' व्यंग्यविनोदमयी शैली के रोचक उदाहरण हैं। इन्हें मूलतः आत्मव्यंजक निबन्धकार कहा गया है। 'कादम्बरी' को गद्य का आदर्श माननेवाले लेखक प्रेमघन के निबन्ध सामाजिक आलोचना के लिए भी अलंकृत शैली का ही निर्वाह करते हैं। यह दृष्टि ही प्रेमघन के निबन्धों की सीमा है जिससे द्विवेदी युग के भी कई लेखक प्रभावित जान पड़ते हैं।

द्विवेदी युग हिन्दी निबन्ध के ऐतिहासिक विकास का दूसरा चरण है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' के प्रकाशन का महत्त्व इस युग के निबन्ध साहित्य के विकास की दृष्टि से जरूर ही स्वीकार किया जायेगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी नवजागरण के महत्त्वपूर्ण उन्नायकों में गिने जाते हैं। उन्होंने 'सरस्वती' में अनेक विषयक्षेत्रों से सम्बद्ध निबन्ध प्रकाशित किये और बेकन के निबन्धों का अनुवाद भी प्रकाशित किया जिसका प्रभाव उसी युग के कतिपय निबन्ध-लेखकों के शिल्प अथवा विषयनिर्वाह पद्धति पर देखा जा सकता है। इस युग में निबन्ध की भाषा और रूप प्रकार की स्वच्छता के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयास किये गये जिसका एक परिणाम यह भी है कि भारतेन्दु युग की जीवन्तता, स्फूर्ति, बेलौस व्यंग्य इस युग के निबन्धों में विरल है। बालमुकुन्द गुप्त, भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की संधि के लेखक हैं, इसलिए उनके यहाँ व्यंग्यात्मक निबन्ध-शैली की वही अपूर्व सजीवता या रोचकता मिलेगी जो भारतेन्दु युग की निबन्ध-शैली की सहज प्रकृति है। 'शिवशंभु का चिट्ठा' इस दृष्टि से सार्थक उदाहरण है। बोलचाल की जीवित भाषा की रंगतें, चलते मुहावरों का विदग्ध उपयोग बालमुकुन्द गुप्त की शैली का प्रधान आकर्षण है। द्विवेदी युग के अन्य महत्त्वपूर्ण निबंध लेखक हैं—माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, गणेशशंकर विद्यार्थी, यशोदानंदन अखौरी, सियारामशरण गुप्त, पूर्णसिंह और रामचन्द्र शुक्ल। शुक्ल जी की निबन्ध-शैली का उत्कर्ष अगले युग तक प्रकट है। साहित्य, भाषा, पुरातत्त्व, इतिहास, भूगोल, जीवनचरित या आत्मचरित, राजनीति, अध्यात्म आदि अनेक विषयक्षेत्रों में एक साथ लिखनेवाले अनेक लेखक इस युग में मिल जायेंगे। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विभिन्न शैलियों में निबन्ध लिखे हैं। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि के निबन्धों का स्वरूप प्रायः समीक्षात्मक है।

इनमें बख्शी ही निबन्ध की अपनी शैली के प्रति अधिक सतर्क रहे हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने एक साथ 'कछुआ धर्म' और 'संगीत' जैसे विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। भावात्मक निबन्ध-लेखकों में पूर्णसिंह की तुलना शायद किसी से नहीं की जा सकती है। 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' जैसे निबन्धों का गद्य मार्मिक काव्यात्मकता के निकट है।

रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों का महत्त्व अलग रेखांकित करने योग्य है। शुक्ल जी के निबन्ध मुख्यतः दो प्रकार के हैं—मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक आलोचनात्मक। पर इस दूसरे प्रकार के अन्तर्गत विषय-दृष्टि से कई तरह के निबन्ध हैं जिनमें कहीं भावात्मक आस्वादपरक आलोचना की सहजता है और कहीं गूढ़ शास्त्रीयता। 'कविता क्या है', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' 'रसात्मक बोध के विविध रूप' सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध हैं पर इनमें भी शैलीगत भिन्नता लक्ष्य की जा सकती है। मनोवैज्ञानिक निबन्धों में शुक्ल जी ने जिन मनोविकारों को आधार बनाया है (जैसे 'उत्साह', 'करुणा', 'ईर्ष्या', 'श्रद्धा-भक्ति', 'लज्जा और ग्लानि'; 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'भय') उनकी स्थिति ठीक व्यावहारिक जीवन में देखने या जाँचने की कोशिश की है। यहाँ भी शुक्ल जी की रस-दृष्टि, लोकधर्मी संवेदना और अनुभव की भाषा पाठक को आकृष्ट करती है। शुक्ल जी के निबन्धों में गहरी भावात्मक चिन्ता के साथ व्यंग्य-विनोद का यथा-प्रसंग उपयोग लक्ष्य किया जा सकता है। सफाई और प्रवाह, कसाव और गति के साहचर्य-संगठन में शुक्ल जी के निबन्धशिल्प की विशेषताएँ अलग पहचानी जा सकती हैं। 'शैली ही मनुष्य है' जैसे कथन की सार्थकता भी उनके निबन्धों से प्रमाणित है। 'चिन्तामणि' प्रथम भाग के निवेदन में शुक्ल जी कहते हैं : "इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही हैं बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर।" 'करुणा' जैसे निबन्ध में करुणा के उद्भव का कारण और दुःखात्मक वर्ग में उसकी स्थिति मनोवैज्ञानिक आधार पर ही बतायी गयी है, पर उसके वास्तविक स्वरूप-निर्धारण के लिए और उसकी संवेदना के स्पष्टीकरण के लिए सामाजिक नैतिक अनुभवक्षेत्रों से भी आवश्यक उदाहरण और तथ्य चुने गये हैं। शुक्ल जी के निबन्धों की भाषा में स्पष्टता, तार्किकता के साथ व्यक्तित्व-विधायिनी शक्ति भी मौजूद है। रूप की दृष्टि से द्विवेदी युग के निबन्धों की पहचान में गद्यकाव्य और चरितात्मक कहानी जैसे रूप भी सिमट आये हैं। रायकृष्णदास की 'साधना' और गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रतापचरित' इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, समीक्षात्मक, विचारप्रधान, भावात्मक आत्मचरितात्मक और स्वप्नकथात्मक सभी प्रकार के निबन्ध द्विवेदी

युग में लिखे गये—पर अधिसंख्य उदाहरणों में भारतेन्दु युग के निबन्धों की स्वच्छंदता और लचीलेपन को छोड़कर। रामविलास शर्मा के अनुसार "इस युग की सही पहचान तभी हो सकती है जब हम एक तरफ भारतेन्दु युग से उसका सम्बन्ध पहचानें और दूसरी तरफ छायावादी युग से उसके सम्बन्ध पर ध्यान दें।" (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृष्ठ १५)

'छायावाद' न केवल काव्यप्रवृत्ति की विशिष्ट संज्ञा है बल्कि उसमें एक युग की-सी संवेदनीयता मौजूद है। इसीलिए काव्येतर बिधाओं में भी छायावाद का वैशिष्ट्य पाठक को आकृष्ट करता है। प्रसाद की कहानियों और नाटकों में छायावाद के तत्त्व साफ देखे जा सकते हैं। इसलिए 'छायावाद युग' को हिन्दी-निबन्ध के विकास का तीसरा महत्त्वपूर्ण चरण स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये। दूसरी दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों का रचना-समय, जैसा पहले स्पष्ट किया गया है, छायावाद-युग तक फैला हुआ है और उनके प्रौढ़ लेखन का समय भी यही है, इसलिए उनके महत्त्व की स्वीकृति की दृष्टि से इस युग को 'शुक्ल युग' कहना चाहें, तो कह सकते हैं। हमारी दृष्टि में छायावाद की संवेदना से, उसकी मूल अंतर्वर्ती चेतना से शुक्ल जी का कोई अनिवार्य विरोध नहीं है। रागात्मक संवेदना और अनुभूतिमयी भाषा की जो पहचान शुक्ल जी में विकसित हुई है उसके पीछे छायावाद की अपनी प्रेरणा है। शुक्ल जी की ऐतिहासिक स्थिति को देखते हुए यह स्पष्टीकरण आवश्यक जान पड़ा। इस युग के महत्त्वपूर्ण निबन्धलेखक हैं—जयशंकर प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, प्रेमचन्द, महादेवी वर्मा, रघुवीर सिंह, नन्ददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, बेचन शर्मा 'उग्र'। प्रसाद के 'काव्य और कला' जैसे निबन्धों में साहित्यिक विश्लेषण की गंभीरता के साथ दार्शनिक बोध भी मौजूद है। माखनलाल चतुर्वेदी के निबन्धों का गद्य कविता की हदों को छूता है। 'साहित्यदेवता' चतुर्वेदी जी की उल्लेख्य कृति है। 'अमीर इरादे : गरीब इरादे' के निबन्धों में उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हुआ है। निराला के निबन्धों में 'नाटक समस्या', 'विद्यापति और चंडीदास', 'कला के विरह में जोशी बन्धु', 'साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान धर्म' कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं जिनमें उनकी तर्कक्षमता और वैचारिक दृढ़ता के साथ व्यक्तित्वचेतना भी दिखाई देती है। 'कुछ विचार' में संकलित प्रेमचंद के निबन्ध उनकी व्यापक जागरूकता और प्रगतिशील दृष्टि के उदाहरण हैं। महादेवी वर्मा के 'साहित्यकार की आस्था', 'छायावाद', 'यथार्थ और आदर्श' जैसे निबन्धों में गहरी वैचारिकता के साथ कविस्वभाव की भावुकता और संवेदनीयता भी है। उनके संस्मरणात्मक निबन्धों और रेखाचित्रों में

गद्य भाषा का कलात्मक परिष्कार प्रत्यक्ष है। 'यथार्थ और आदर्श' जैसे निबन्धों को पढ़ते हुए उनकी वक्तृता-शैली का आनन्द सहज ही लिया जा सकता है। 'साहित्य और साहित्यकार', 'घर और बाहर' जैसे महादेवी के संभाषण भी निबन्ध के आदर्श जान पड़ते हैं। अपने निबन्धों के विषय में महादेवी की टिप्पणी है : "कहती तो वही हूँ जो अनुभव करती हूँ, परन्तु दूसरों तक जिस रूप में पहुँचना है, वही सत्य है।" नंददुलारे वाजपेयी के निबन्धों में आलोचनात्मक विश्लेषण की प्रखरता—उनकी मान्यताओं के पीछे छायावाद की संवेदना स्पष्ट है। शांतिप्रिय द्विवेदी के निबन्ध उनके व्यक्तित्व के प्रतिरूप कहे गये हैं। उन्हीं की भाषा में उनके निबन्धों का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'आन्तरिक छंद' है। 'शेष स्मृतियाँ' के लेखक रघुवीर सिंह के निबन्धों का गद्य एक खास तरह का बाँकपन लिये हुए है जो कई बार माखनलाल चतुर्वेदी के गद्य का समानधर्मा जान पड़ता है। उग्र के निबन्धों का 'अन्दाज़े बयाँ' सबसे अलग है—अपनी व्यंग्यक्षमता में में वह बेजोड़ है।

इससे आगे के युग को 'वर्तमान युग' (हिन्दी का गद्य साहित्य : रामचन्द्र तिवारी) या 'शुक्लोत्तर युग' कह कर काम चलाया जा रहा है। हजारीप्रसाद द्विवेदी से कुबेरनाथ राय तक—लेखकों की संवेदना का धरातल और रचनाशिल्प एक ही प्रकार का नहीं है। अज्ञेय, जैनेन्द्र और निर्मल वर्मा के निबन्धों में भी व्यक्तित्वबोध एक ही ढंग का नहीं है, न हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय की सांस्कृतिक संवेदना एक जैसी है। इसी अवधि में नगेन्द्र से नामवर सिंह तक—समीक्षात्मक निबन्धों की विचारभूमि और शैली की दृष्टि से विविधता और बहुस्तरीयता देखी जा सकती है। रामविलास शर्मा के निबन्धों में खास तरह की वैचारिक दृढ़ता, स्पष्टता और तर्कक्षमता देखी जा सकती है। हरिशंकर परसाई और श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्यधर्मी निबन्धों में शैलीगत अंतर के साथ दृष्टि का भेद भी दिखाई देता है। इस लम्बे समय में निबन्ध विधा को सबसे अधिक सार्थकता हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दी है। यदि किसी एक निबन्ध लेखक को केन्द्र में रखकर वर्तमान युग का मूल्यांकन करना हो तो वह हजारीप्रसाद द्विवेदी ही होंगे।

'बहुश्रुत' और 'कथा कौतुकी' कहे जाने वाले हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में उनका सृजनशील व्यक्तित्व ही उभर कर व्यक्त हुआ है। पाण्डित्य द्विवेदी जी के लिए कोई समस्या नहीं बनता—वह प्रायः काल के आयामों की थाह लेनेवाली दृष्टि देकर अलग हो जाता है—उसके बाद द्विवेदी जी पाण्डित्य की जड़ता पर निरन्तर चोट करते रहते हैं। उनके निबन्धों में विचार भी बिम्ब-

माला का रूप ले लेते हैं। स्मृति से वर्तमान तक हृदय का छंद सजग पर्युत्सुक बना रहता है। अकुण्ठ भावावेग द्विवेदी जी के निबन्धों को खास तरह की लयात्मकता दे सका है। 'अशोक के फूल', 'कुटज', 'देवदारु', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' जैसे निबन्धों में सोच और कल्पना की मुक्ति ही सृजनशीलता का पर्याय है। राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चिन्तन, जातीय स्मृति, मानवीय निरन्तरता, परम्परा और आधुनिकता—अनुभवज्ञान के अनेक स्तरों पर द्विवेदीजी के निबन्ध अपने पाठकों से संवाद करते देखे जाते हैं। उनकी वक्तृता कविस्वभाव की तन्मयता के साथ मिलकर ज्ञानात्मक संवेदना और लालित्य का कैसा अद्‌भुत साहचर्य घटित करती है, यह द्विवेदी जी के निबन्धों में सहज देखने योग्य है। 'दिनकर' के कुछ निबन्ध उन्हीं के शब्दों में कविता की चौहद्दी के निकट पड़ते हैं और कुछ गम्भीर विश्लेषणपरक या मूल्यांकन केन्द्रित निबन्ध हैं। 'मिट्टी की ओर' उनके आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है पर पाठक यहाँ संकलित निबन्धों में भी व्यक्तित्व की व्यंजना लक्ष्य कर सकेंगे। 'हड्डी का चिराग' भावात्मक निबन्ध शैली का रोचक उदाहरण हैं। 'त्रिशंकु' और 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में अज्ञेय के आलोचनात्मक निवन्ध संकलित हैं। 'लिखि कागद कोरे', 'जोग लिखी', 'शाश्वती', जैसी कृतियों में आत्मव्यंजक निबन्धशैली की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। अज्ञेय ने 'कुट्टिचातन' नाम से भी कुछ निबन्ध लिखे हैं जो व्यक्तिव्यंजक निबन्धों की कोटि में ही रखे जायेंगे। इनमें आत्मव्यंजना भी दुर्लभ तटस्थता और शालीनता का संयोग उपस्थित करती है। रामवृक्ष बेनीपुरी के निबन्ध 'ललित निबंध' कहे जा सकते हैं—उनमें काव्यात्मक भावुकता का अपनी तरह का रचाव भी है और लाक्षणिक वक्रता और विदग्धता भी। जैनेन्द्र के निबन्ध आत्मवक्तव्य जैसे हैं—उनमें विचार और भाषा का भ्रामक अटपटापन अलग तरह का स्वाद पैदा करता है। राहुल सांकृत्यायन, वासुदेवशरण अग्रवाल और सम्पूर्णानन्द के शोधपूर्ण वैचारिक निबन्धों का अपना महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं, पर अपेक्षित आत्मव्यंजकता और सृजनशीलता के अभाव में वे निबन्ध की दृष्टि से आदर्श नहीं कहे जायेंगे। नगेन्द्र जैसे आलोचनात्मक निबन्धकारों की भी यही सीमा है। शैली की दृष्टि से नगेन्द्र के निबन्धों की विविधता अवश्य उल्लेखनीय कही जायेगी। रघुवंश और विपिन अग्रवाल के निबन्धों में सांस्कृतिक सृजनशीलता और आधुनिकता जैसे विषयसूत्र उठाये गये हैं। 'बकलम खुद' के बाद नामवर सिंह ने आत्मव्यंजक निबन्ध नहीं लिखे पर उनके आलोचनात्मक निबन्धों में संवाद या बहस की एक खास शैली का विकास दिखाई देता है। विजयदेवनारायण साही के 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस'—जैसे निबन्ध इसी शैली के कारण उत्तेजक आनंद का विषय बन

सके हैं। निर्मल वर्मा के साहित्यिक-सांस्कृतिक चिन्तन-सम्बन्धी निबन्धों की विशेषताएँ पुनः अलग रेखांकित करने योग्य हैं। निर्मल वर्मा ने अपने निबन्ध-संग्रह 'शब्द और स्मृति' की भूमिका में अपने निबन्धों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"इनका उद्देश्य दूसरों के सामने कुछ प्रमाणित करना उतना नहीं है जितना खुद अपने कुछ पुराने विचारों के आस-पास चक्कर काटना है। आप देखेंगे कि 'चक्कर काटते' हुए मैं कभी-कभी अपने मूल विषय से बहुत दूर भटक गया हूँ, किन्तु निबन्ध की विधा हमें भटकने की सुविधा देती है, बशर्ते हम रास्ता न भूल जायें और शाम होते तक घर लौट आयें।" 'अतीत : एक आत्म-मंथन' जैसे निबन्ध को गैर-आधुनिक कहने की एक विशेष सार्थकता है। ये निबन्ध उस जमीन पर लिखे गये हैं जहाँ आधुनिकता के प्रचलित अंधविश्वासों, रूढ़िगत फैशनों और फार्मूलों को स्वीकार नहीं किया जा सकता है और उनके समक्ष बराबर प्रश्नचिह्न लगाये गये हैं। 'हर बारिश में', 'कला का जोखिम' निर्मल वर्मा के अन्य महत्त्वपूर्ण निबंधसंग्रह हैं। 'चीड़ों पर चाँदनी' उनके संस्मरणात्मक निबन्धों का संग्रह हैं। एक आत्मसजग स्वाधीन व्यक्तित्व का स्पर्श निर्मल वर्मा के निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। उनके गद्य में एक अनोखी चमक है जो केवल कलात्मक परिष्कार का साक्ष्य नहीं, गहरे आत्म-मंथन का परिणाम भी है।

विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय को हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा में देखते हुए ही इनके निबन्धों का मूल्यांकन किया जाता रहा है, पर समग्र देखने पर इनकी विशेषताएँ अलग रेखांकित किए जाने की माँग करती हैं। 'चंद्रमा मनसो जातः', 'साँझ भई', 'छितवन की छाँह' आदि निबन्धों से अलग 'आँगन का पंछी और बनजारा मन', 'नये मूल्यों की तलाश', 'आस्था की सही पहचान' जैसे निबन्धों में विद्यानिवास मिश्र का एक और मन पहचाना जा सकता है जिसका अपना आक्रोश, क्षोभ और पीड़ा एक तनावभरे संतुलन में रूप लेने में समर्थ है। शिक्षा, धर्म, संस्कृति सम्बन्धी निबन्धों में भी विद्यानिवास मिश्र का प्रश्नाकुल आधुनिक संवेदन अपनी तल्खी के साथ मौजूद है। 'तमाल के झरोखे से'—जैसे वैयक्तिक (या ललित) निबन्धों में भी वैचारिकता है पर वहाँ वैचारिकता के अतिरिक्त एक भावात्मक तादात्म्य भी है जबकि वैचारिक निबन्धों में भावात्मक तादात्म्य निगूढ़ रूप में है। 'परम्परा बंधन नहीं', 'अस्मिता के लिए' मिश्र जी के वैचारिक निबन्धों के महत्त्वपूर्ण संग्रह हैं। कुबेरनाथ राय ने परम्परा और आधुनिकता के बीच एक रिश्ता खोजने की कोशिश की है और पूर्वी पश्चिमी संस्कृति के वैचित्र्यपूर्ण मिथकों के पुर्नन्वेषण की प्रक्रिया में अपना चिन्तन और शिल्प विकसित किया है। अपने निबन्ध-संग्रह 'विषादयोग' में

कुबेरनाथ राय कहते हैं—"हमारा प्रस्थान बिन्दु चाहे जो हो, लक्ष्य सर्वदा व्यक्ति और देश के 'चिन्मय व्यक्तित्व' का आविष्कार और संरक्षण ही है।" 'कामधेनु', 'महाकवि की तर्जनी' कुबेरनाथ राय के अन्य निबन्धसंग्रह हैं। 'एक महाकाव्य का जन्म' जैसे निबन्धों में पाठक अनुभव करेंगे कि व्यक्तिव्यंजकता पर कुबेरनाथ राय का भी उतना ही बल है जितना उनके आदर्श, हजारीप्रसाद द्विवेदी—जैसे लेखकों का—पर उनका संदर्भबहुल चिन्तन कई बार सहज सृजनशीलता को अवरुद्ध करता है।

अनुभव किया जायेगा कि आदर्श रूप में निबन्ध लेखकों की संख्या इधर के रचनात्मक दृश्यालेख की गहमागहमी को देखते हुए नगण्य है। कविता और कहानी-उपन्यास की तरह निबन्ध को केन्द्रीय महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में शायद नहीं देखा जाता—यद्यपि वास्तविकता यह है कि अब भी विचार और सृजनशीलता के संगठन के आधार पर जिस गद्यविधा में पाठकों से सार्थक संवाद किया जा सकता है, वह विधा 'निबन्ध' ही है। उसका अनुशासन यह माँग जरूर करता है कि लेखक में गहरे अध्ययन के साथ एक ही समय आगे-पीछे देखनेवाली सतर्क संवेदनशील अनुभव-सजग दृष्टि मौजूद हो—साथ ही उसका भाषा की संरचना, गति और प्रवाह पर अपेक्षित नियंत्रण भी हो। इसलिए नये लेखक यदि निबन्ध की ओर कम आकृष्ट हैं तो यह उसकी विधागत कमजोरी या अनुपयोगिता के कारण नहीं, अपनी ओर से ही अपेक्षित तैयारी की कमी के कारण। 'गद्य' को यदि 'कवियों की कसौटी' कहा गया है और 'निबन्ध' को इसी तर्क से 'गद्य की कसौटी'—तो उपर्युक्त अनुशासन और कठिनाई को लक्ष्य कर ही ! एक महत्त्वपूर्ण लेखक ने अपनी टिप्पणी में यह प्रश्न उठाया है कि क्या 'सुलिखित' (Being well written) ही निबन्ध की सार्थकता या श्रेष्ठता की एकमात्र कसौटी है ? निस्सन्देह, वह नहीं है। उदाहरण के लिए सुलिखित विज्ञापन निबन्ध का दर्जा नहीं पा सकता। उसी तरह सुलिखित शोधपूर्ण लेख भी आदर्श रूप में निबन्ध नहीं है। निबन्ध की सार्थकता केवल सूचनात्मक-ज्ञान की कसौटी पर नहीं आँकी जा सकती जबकि सूचनात्मक ज्ञान भी उसका एक पहलू हो सकता है। साहित्यिक सृजनशील कल्पना ही निबन्ध की उत्कृष्टता को जाँचने की बेहतर कसौटी हो सकती है। कहा जा सकता है कि जब निबन्ध में लेखक अपने को खोजने, रचने और सम्प्रेषित करने का माध्यम या उपयुक्त ढाँचा पा लेता है तभी उसकी सार्थकता भी प्रमाणित होती है।

●

साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है

बालकृष्ण भट्ट

प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती हैं, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य का मन जब शोक-संकुल, क्रोध से उद्दीप्त, या किसी प्रकार की चिन्ता से दोचित्ता रहता है, तब उसकी मुखच्छवि तमसाच्छन्न, उदासीन और मलिन रहती है, उस समय उसके कण्ठ से जो ध्वनि निकलती है, वह भी या तो फूटे ढोल के समान बेसुरी, बेताल, बेलय या कलापूर्ण गद्गद तथा विकृत स्वर-संयुक्त होती है। वही जब चित्त आनन्द की लहरी से उद्वेलित हो नृत्य करता है और सुख की परम्परा में मग्न रहता हैं, उस समय मुख विकसित कमल-सा प्रफुल्लित नेत्र मानो हंसता-सा और अंग-अंग चुस्ती और चालाकी से फिरहरी की तरह फरका करते हैं, कण्ठ-ध्वनि भी तब वसन्तमदमस्त कोकिला के कण्ठरव से भी अधिक मीठी और सुहावनी मन भाती है। मनुष्य के सम्बन्ध में इस अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियम का अनुसरण प्रत्येक देश का साहित्य भी करता है, जिसमें कभी क्रोधपूर्ण भयंकर गर्जन, कभी प्रेम का उच्छ्वास कभी शोक और परितापजनित हृदय-विदारी करुण-निस्वन, कभी वीरता-गर्व से बाहुबल के दर्प में भरा हुआ सिंहनाद, कभी भक्ति के उन्मेष से चित्त की द्रवता का परिणाम अश्रुपात आदि अनेक प्रकार के प्राकृतिक भावों का उद्गार देखा जाता है। इसलिए साहित्य यदि जन-समूह (Nation) के चित्र का चित्रपट कहा जाय, तो संगत है। किसी देश का इतिहास पढ़ने से हम उस देश का केवल बाहरी हाल जान सकते हैं, पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।

हमारे पुराने आर्यों का साहित्य वेद है। उस समय आर्यों की शैशवावस्था थी; बालकों के समान जिनका भाव, भोलापन, उदार भाव, निष्कपट व्यवहार वेद के साहित्य को एक विलक्षण तथा पवित्र माधुर्य प्रदान करते हैं। वेद जिन महापुरुषों के हृदय का विकास था, वे लोग मनु और याज्ञवल्क्य के समान समाज के आभ्यंतरिक भेद, वर्ण-विवेक आदि के झगड़ों में समाज की उन्नति या अवनति की तरह-तरह की चिन्ता में नहीं पड़े थे; कणाद या कपिल के समान अपने-अपने

शास्त्र के मूलभूत बीजसूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्त्व की छान-बीन में दिन-रात नहीं डूबे रहते थे; न कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष आदि कवियों के सम्प्रदाय के अनुसार वे लोग कामिनी के विभ्रम-विलास और लावण्यलीला-लहरी में गोते मार-मार प्रमत्त हुए थे। प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिमा देख उनके सीधे-सादे चित्त ने बिना कुछ विशेष छानबीन किये उसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ लिया। उसके द्वारा वे अनेक प्रकार का लाभ देख कानन-स्थित विहंग कूजन समान कलकल-रव से प्रकृति की प्रभात-वन्दना का साम गाने लगे; जल-भार नत श्यामल मेघमाला का नवीन सौन्दर्य देख पुलकितगात्र हो कृतज्ञता-सूचक उपहार की भाँति स्तोत्र का पाठ करने लगे; वायु जब प्रबल वेग से बहने लगी, तो वे उसे भी एक ईश्वरीय शक्ति समझ उसे शान्त करने को वायु की स्तुति करने लगे इत्यादि। वे ही सब ऋक् और साम की पावन ऋचाएँ हो गयीं। उस समय अब के समान राजनीतिक आत्याचार कुछ न था, इसी से उनका साहित्य राजनीति की कुटिल उक्ति-युक्ति से मलिन नहीं हुआ था।

नये आये हुए आर्यों के नूतन ग्रथित के संस्थापन में सब तरह की अपूर्णता थी सही, पर सबका निर्वाह अच्छी तरह होता जाता था; किसी को किसी कारण से किसी प्रकार का अस्वास्थ्य न था, आपस में एक-दूसरे के साथ अब का-सा बनावटी कुटिल बर्ताव न था इसलिए उस समय के उनके साहित्य वेद में भी कृत्रिम भक्ति, कृत्रिम सौहार्द्र, कपट-वृत्ति, बनावट और चुनाचुनी ने स्थान नहीं पाया। उन आर्यों का धर्म अब के समान गला घोंटने वाला न था। सबके साथ सबकी सहानुभूति खान-पान द्वारा रहती थी। उनके बीच धार्मिक मनुष्य अब के धर्म-ध्वजियों के समान दांभिक बन महाव्याधि सदृश लोगों के लिए गलग्रह न थे। सिधाई, भोलापन और उदारभाव उनके साहित्य के एक-एक अक्षर से टपक रहा है। एक बार महात्मा ईसा एक सुकुमारमति बालक को अपनी गोद में बैठाकर अपने शिष्यों की ओर इशारा करके बोले कि जो कोई छोटे बालकों के समान भोला न बने, उसका स्वर्ग के राज्य में कुछ अधिकार नहीं है। हम भी कहते हैं, जो सुकुमार-चित्त वेदभाषी इन आर्यों की तरह पद-पद में ईश्वर का भय रख, प्राकृतिक पदार्थों के सौन्दर्य पर मोहित होकर, बालकों के समान सरलमति न हो, उसका स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना अति दुष्कर है।

इन्हीं प्राकृतिक पदार्थों का अनुशीलन करते-करते इन आर्यों को ईश्वर के विषय में जो-जो भाव उदय हुए, वे ही सब एक नये प्रकार के साहित्य उपनिषद् के नाम से कहलाये। जब इन आर्यों का समाज अधिक बढ़ा और लोगों की रीति-नीति और बर्ताव में विभिन्नता होती गयी, तब सबों को एकता के सूत्र में बद्ध

रखने के लिए और अपने-अपने गुण कर्म से लोग चल-विचल हो सामाजिक नियमों को जिसमें कि किसी प्रकार की हानि न पहुँचावें, इसलिए स्मृतियों के साहित्य का जन्म हुआ। मनु, अत्रि, हारीत, याज्ञवल्क्य आदि ने अपने-अपने नाम की संहिता बना विविध प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और धर्म सम्बन्धी विषयों का सूत्रपात किया। उन्हीं के समकालीन गौतम, कणाद, कपिल, जैमिनी, पतंजलि आदि हुए, जिन्होंने अपने-अपने सोचने के परिणाम-रूप दर्शन-शास्त्रों की बुनियाद डाली। इन स्मृतियों और आर्यग्रंथों की भाषा को हम वैदिक और आधुनिक संस्कृत के बीच की भाषा कह सकते हैं। अब से संस्कृत के दो खण्ड होते चले; जो वेद तथा लोक के नाम से कहे जाते हैं। पाणिनि के सूत्रों में, जो संस्कृतपाठियों के लिए कामधेनु का काम दे रहे हैं और जिनसे वैदिक और लौकिक सब प्रयोग सिद्ध होते हैं, लोक और वेद की निरख अच्छी तरह की गयी है, और इसी वेद और लोक के अलग-अलग भेद से साबित होता है कि संस्कृत किसी समय प्रचलित भाषा थी, जो लोगों के बोलचाल के बर्ताव में लायी जाती थी।

वेद के उपरांत रामायण और महाभारत साहित्य के बड़े-बड़े अंग समझे गये। रामायण के समय भारतीय सभ्यता का प्रेमोच्छ्वास-परिप्लावित नूतन यौवन था; किन्तु महाभारत के समय भारतीय सभ्यता क्षति-ग्रस्त हो वार्द्धक्य भाव को पहुँच गयी थी। रामायण के प्रधान पुरुष रघुकुलावतंस श्रीरामचन्द्र थे; और महाभारत के प्रधान पुरुष, बुद्धि की तीक्ष्णता के रूप, कूट-युद्ध विशारद, भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण या उनके हाथ की कठपुतली युधिष्ठिर थे। रामायण के समय से भारत के समय में लोगों के हृदयगत भावों में कितना अन्तर हो गया था कि रामायण में दो प्रतिद्वंद्वी भाई इस बात के लिए विवाद कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्यसिंहासन हमारा नहीं है, यह सब तुम्हारे ही हाथ में रहे। अन्त में रामचन्द्र भरत को विवाद में पराभूत कर समस्त साम्राज्य उनके हस्तगत कर आप आनंद-निर्भर-चित्त हो सस्त्रीक वनवासी हुए। वहीं महाभारत में दो दायाद भाई इस बात के लिए कलह करने पर सन्नद्ध हुए कि जितने में सुई का अग्रभाग ढक जाय, उतनी पृथ्वी भी बिना युद्ध के हम न देंगे—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव।" परिणाम में एक भाई दूसरे पर जय लाभ कर तथा जंघा में गदाघात और मस्तक पर पदाघात से उसे वध कर भाई के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हो, सुख में फूल अनेक तरह के यज्ञ और दान में प्रवृत्त हुआ। रामायण और महाभारत के आचार्य क्रम से कवि-कुल-गुरु बाल्मीकि और व्यास थे। पृथ्वी के और-और देशों में इनके समान या इससे बढ़कर कवि नहीं हुए,

ऐसा नहीं है । यूनान देश में होमर, रोम देश में वर्जिल, इटली में दान्ते, इंगलैंड में चॉसर ओर मिल्टन अपनी-अपनी असाधारण प्रतिभा से मनुष्यजाति का गौरव बढ़ाने में कुछ कम न थे । परन्तु विचित्र कल्पना और प्रकृति के यथार्थ अनुकरण में चिरंतन वृद्ध वाल्मीकि के समान होमर तथा मिल्टन किसी अंश में नहीं बढ़ने पाये, जिनकी कविता के प्रधान नायक श्रीरामचन्द्र आर्य-जाति के प्राण दया के अमृत-सागर, गांभीर्य और पौरुष-दर्प की मानों सजीव प्रतिकृति थे । वे प्रीति और समभाव से महा नीच जाति चाण्डाल तक को गले से लगाते थे । उन्होंने लंकेश्वर-से प्रबल प्रतिद्वंद्वी शत्रु को कभी तृण के बराबर भी नहीं समझा । स्वर्णमण्डित सिंहासन और तपोवन में पर्णकुटी, उन्हें एक सी सुखकारी हुई । उनके स्मित पूर्व काभिभाषित्व और उनकी बोलचाल की मुग्ध माधुरी पर मोहित हो दण्डकारण्य की असभ्य जाति ने भी अपने को उनका दास माना । अहा ! धन्य श्रीरामचन्द्र का अलौकिक माहात्म्य, धन्य वाल्मीकि की कल्पना-सरसी, जिसमें ऐसे-ऐसे स्वर्णकमल प्रस्फुटित हुए ।

काल के परिवर्तन की कैसी महिमा है जो अपने साथ ही साथ मानुषी प्रकृति के परिवर्तन पर भी बहुत कुछ असर पैदा कर देता है । वाल्मीकि ने जिन बातों को अवगुण समझ अपनी कल्पना के प्रधान नायक रामचन्द्र में बरकाया था, वे ही सब व्यास के समय में गुण हो गयीं, जिनकी कविता का मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना मान, अपना गौरव, अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके, न जाने पावे । भारत के हर एक प्रसंग का तोड़ अन्त में इसी बात पर है । शत्रु-सहार और निज कार्य-साधन-निमित्त व्यास ने महाभारत में जो-जो उपदेश दिये हैं, और राजनीतिक की काट-ब्योंत जैसी-जैसी दिखायी है, उसे सुन बिस्मार्क-सरीखे इस समय के राजनीति के मर्म में कुशल राजपुरुषों की अक्ल भी चरने चली जाती होगी । इससे निश्चय होता है कि प्रभुत्व और स्वार्थ-साधन तथा प्रवंचना-परवश भारतवर्ष उस समय कहाँ तक उदारभाव संवेदना आदि उत्तम गुणों से विमुख हो गया था । युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी प्रसिद्ध हैं; पर उनकी सत्यवादिता निज कार्य-साधना के समय सब खुल गयी । "अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा" इत्यादि कितने उदाहरण इस बात के हैं; किन्तु उन्हें विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखते ।

महाभारत के उपरान्त भारत और-का-और ही हो गया । उसकी दशा के परिवर्तन के साथ-ही-साथ उसके साहित्य में भी बड़ा परिवर्तन हो गया । उपरांत बौद्धों का जोर हुआ । ये सब वेद और ब्राह्मणों के बड़े विरोधी थे । वेद की भाषा संस्कृत थी । इसलिए उन्होंने संस्कृत को बिगाड़ प्राकृत भाषा जारी

की। तब से संस्कृत सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा न रही। फिर भी संस्कृतभाषी उस समय बहुत-से लोग थे, जिन्होंने इस नयी भाषा को प्राकृत नाम दिया, जिसके अर्थ ही यह हैं कि प्राकृत अर्थात् नीचों की भाषा। अतएव संस्कृत-नाटकों में नीच पात्र की भाषा प्राकृत और उत्तम पात्र ब्राह्मण या राजा आदि की भाषा संस्कृत रखी गयी है। कुछ काल उपरान्त यह भाषा भी बहुत उन्नति को पहुँची। शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्ध-मागधी, पैशाची आदि इसके अनेक भेद हैं। इसमें भी बहुत से साहित्य के ग्रंथ बने। गुणाढ्य कवि का आर्याबद्ध लक्ष श्लोक का ग्रंथ बृहत्कथा प्राकृत ही में है। सिवा इसके शालिवाहन सप्तशती आदि कई एक उत्तम प्राकृत के ग्रंथ और भी मिलते हैं। नन्द और चन्द्र-गुप्त के समय इस भाषा की बड़ी उन्नति की गयी। जैनियों के सब ग्रन्थ प्राकृत ही में हैं; उनके स्तोत्र-पाठ आदि भी सब इसी में हैं। इससे मालूम होता है कि प्राकृत किसी समय वेद की भाषा के समान पवित्र समझी गयी थी।

संस्कृत यद्यपि बोलचाल की भाषा इस समय न रह गयी थी, पर हर एक विषय के ग्रन्थ इसमें एक-से-एक बढ़-चढ़ कर बनते गये और साहित्य की तो यहाँ तक तरक्की हुई कि कालिदास आदि कवियों की उक्ति-युक्ति के मुकाबले वेद का भद्दा और रूखा साहित्य अत्यन्त फीका मालूम होने लगा। कालिदास की एक-एक उपमा पर और भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष, बाण की एक-एक छटा पर वेद के उम्दा-से-उम्दा सूक्त, जिनमें हमारे पुराने आर्यों ने मरपच साहित्य की बड़ी भारी कारीगरी दिखलायी है, न्योछावर हैं। संस्कृत के साहित्य के लिए विक्रमादित्य का समय 'अगस्टन पीरियड' कहलाता है, अर्थात् उस समय संस्कृत जहाँ तक उसके लिए परिष्कृत होना सम्भव था, अपनी पूर्ण सीमा तक पहुँच गयी थी। यद्यपि भारवि, माघ, मयूर प्रभृति कई एक उत्तम कवि धाराधिपति भोजराज के समय तक और उनके उपरान्त भी जगन्नाथ पण्डितराज तक बराबर होते ही गये; किन्तु संस्कृत के परिष्कृत होने की सामग्री उस समय तक पूरी हो चुकी थी। भोज का समय तो यहाँ तक कविता की उन्नति का था कि एक-एक श्लोक के लिए असंख्य इनाम राजा भोज कवियों को देते थे। वेद का साहित्य उस समय यहाँ तक दब गया था कि छांदस मूर्ख की एक पदवी रक्खी गयी थी। केवल पाठ-मात्र वेद जानने-वाले छांदस कहलाते थे और वे अब तक भी निरे मूर्ख होते आये हैं।

बौद्धों के उच्छेद के उपरान्त एक जमाना पुराण के साहित्य का भी हिन्दुस्तान में हुआ। उस समय बहुत से पुराण, उप-पुराण और संहिताएँ दो-चार सौ वर्ष के हेर-फेर में रची गयीं। अब हम लोगों में जो धर्म-शिक्षा, समाज-शिक्षा और रीति-नीति प्रचलित है, वह सब शुद्ध वैदिक एक भी नहीं है। थोड़े से ऐसे लोग

हैं, जो अपने को स्मार्त मानते हैं। अब तो अलबत्ता अधिकांश वेदोक्त कर्म का यत्किंचित् प्रचार पाया जाता है, सो भी केवल नाम-मात्र को; पुराण उसमें भी बीच-बीच में आ घुसा है। हमारी विद्यमान छिन्न-भिन्न दशा, जिसके कारण हजार-हजार चेष्टा करने पर भी जातीयता हमारे में आती ही नहीं, सब पुराण ही की कृपा है। जब तक शुद्ध वैदिक साहित्य हम लोगों में प्रचलित था, तब तक जातीयता के दृढ़ नियमों में जरा भी अन्तर नहीं होने पाया था। पुराणों के साहित्य के प्रचार से एक बड़ा लाभ भी हुआ कि वेद के समय की बहुत-सी घिनौनी रीतियों और रस्मों को, जिनके नाम लेने से भी हम घिना उठते हैं, और उन सब महाघोर हिंसाओं को, जिनके सबब से अपने अहिंसा-धर्म के प्रचार करने में बौद्धों को सुविधा हुई थी, पुराणकर्ताओं ने उठाकर शुद्ध सात्त्विकी धर्म को विशेष स्थापित किया। अनेक मतमतान्तरों का प्रचार भी पुराणों की ही करतूत है। पुराण वाले तो पंचायतन-पूजन ही तक से सन्तोष करके रह गये। तंत्रों ने बड़ा संहार किया। उन्होंने अनेक क्षुद्र देवता—भैरव, काली, डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेत तक की पूजा को फैला दिया। मद्य-मांस के प्रचार को, जिसे बौद्धों ने तमोगुणी और मलिन समझ उठा दिया था, तांत्रिकों ने फिर बहाल किया। पर बल-वीर्य की पुष्टता से जो मांसाहार का प्रधान लाभ था, ये लोग फिर भी वंचित रहे। निःसंदेह तांत्रिकों की कृपा न होती, तो हिन्दुस्तान इतना जल्द न डूबता। वेद का अधिकारी शुद्ध ब्राह्मण तांत्रिक दीक्षा या तंत्र-मंत्र के पठन-पाठन से बहुत जल्द पतित हो सकता है, यह जो किसी स्मृतिकार का मत है, हमें भी कुछ-कुछ सयुक्तिक मालूम होता है। बहुत से पुराण तन्त्रों के बाद बने। उनमें भी तांत्रिकों का सिद्धांत पुष्ट किया गया।

हम ऊपर लिख आये हैं कि हिन्दू-जाति में कौमियत के छिन्न होने का सूत्रपात पुराणों के द्वारा हुआ, और तन्त्रों ने उसे बहुत पुष्ट किया। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध इत्यादि अनेक जुदे-जुदे फिरके हो गये, जिनमें इतना दृढ़ विरोध कायम हुआ कि एक-दूसरे के मुँह देखने के रवादार न हुए, तब परस्पर की सहानुभूति कहाँ रही? जब समस्त हिन्दूजाति का एक वैदिक सम्प्रदाय न रहा, तो वही मसल चरितार्थ हुई कि 'एक नारि जब दो से फँसी; जैसे सत्तर वैसे अस्सी'। हमारी एक हिन्दू-जाति के असंख्य टुकड़े होते-होते यहाँ तक खण्ड हुए कि अब तक नये-नये धर्म और मत प्रवर्तक होते ही जाते हैं। ये टुकड़े जितने वैष्णवों में अधिक हैं, उतने शैव-शाक्तों में नहीं और आपस में एक का दूसरे के साथ मेल और खान-पान जितना कम इनमें है, उतना और में नहीं। राम के उपासक कृष्ण के उपासक से लड़ते हैं, कृष्ण के उपासक रामोपासकों से इत्तिफाक नहीं रखते।

कृष्णोपासकों में भी सत्यानासिन अनन्यता ऐसी आड़े आयीं है कि यह इनके आपस ही में बड़ी खटपट लगाये रहती है।

प्राकृत के उपरान्त हमारे देश के साहित्य के दो नमूने और मिलते हैं, एक पद्मावत और दूसरा पृथ्वीराज-रासो। पद्मावत की कविता में तो किसी कदर कुछ थोड़ा-सा रस है भी; पर पृथ्वीराज-रासो में तारीफ के लायक कौन-सी बात है— यह हमारी समझ में बिल्कुल नहीं आता। प्राकृत से उतरते-उतरते हमारी विद्यमान हिन्दी इस शकल में कैसे आयी; इस बात का पता अलबत्ता रासो से लगता है।

मत-मतांतर के साथ-ही-साथ हमारी भाषा भी गुजराती, मराठी, बंगाली इत्यादि के भेद से प्रत्येक प्रांत की जुदी-जुदी भाषा हो गयी। इन एकदेशी भाषाओं में बंगाली सबसे अधिक कोमल, मधुर और सरस है; मराठी महाकठोर और कर्ण-कटु; तथा पंजाबी निहायत भद्दी, कठोर और रूखेपन में उर्दू की छोटी बहिन है।

अब अपनी हिन्दी की ओर आइए। इसमें सन्देह नहीं, विस्तार में हिन्दी अपनी बहनों में सबसे बड़ी है। ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, बैसवारे की तथा भोजपुरी इत्यादि इसके कई एक अवान्तर भेद हैं। ब्रजभाषा में यद्यपि कुछ मिठास है, पर यह इतनी जनानी बोली है कि इसमें सिवा शृंगार के दूसरा रस आ ही नहीं सकता। जिस बोली को कवियों ने अपने लिए चुन रखा है, वह बुन्देलखंड की बोली है। इसमें सब प्रकार के काव्य और सब रस समा सकते हैं। अपनी-अपनी पसंद निराली होती है—'भिन्नरुचिर्हि लोकः'। हमें बैसवारे की मर्दानी बोली सबसे अधिक भली मालूम होती है। दूसरी भाषाएँ जैसे मराठी, गुजराती, बंगला की अपेक्षा कविता के अंश में हिन्दी का साहित्य बहुत चढ़ा हुआ है तथा संस्कृत से कुछ ही न्यून है। किन्तु गद्य-रचना 'प्रोज' हिन्दी का बहुत ही कम और पोच है। सिवा एक प्रेमसागर-सी दरिद्र रचना के इसमें और कुछ है ही नहीं, जिसे हम इसके साहित्य के भण्डार में शामिल करते। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेड़ मारे हुए है कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं। प्रसंग-प्राप्त अब हमें यहाँ उर्दू के साहित्य-समालोचना का भी अवसर प्राप्त हुआ है; किन्तु यह विषय अत्यन्त ऊब पैदा करनेवाला हो गया है; इससे यहीं पर समाप्त करते हैं। उर्दू की समालोचना फिर कभी करेंगे।

करुणा

रामचन्द्र शुक्ल

जब बच्चे को सम्बन्धज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले परखता है कि जैसे हम हैं, वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचनाक्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण-सम्बन्ध से अभ्यस्त होने पर दूसरों के दुःख के कारण या कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठ-मूठ 'ऊँ-ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई-कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं। इसी प्रकार जब उनके किसी भी भाई या बहिन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रक्खी गई है। आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे आनन्द की श्रेणी में रक्खा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियों या वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति या वस्तु का लोभ होगा, उसकी हानि वह कभी न करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा, पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सम्भालकर रक्खा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया, पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके सुख और दुःख का बहुत-सा अंश दूसरे की क्रिया या अवस्था पर अवलम्बित हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिये अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुःखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है क्या उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं

समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञातकुलशील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिये बन्द नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है कहाँ रहता है और कैसा है; यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध या अत्याचार किया है, हमारी दया दूर या कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध या अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी या अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है।

सारांश यह है कि करुणा की प्राप्ति के लिये पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनन्दित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद् या सम्बन्धी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान या चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र या हितकारी हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ या कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनन्द का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनन्द होता है उसका न तो कोई अलग नाम रक्खा गया और न उसमें वेग या प्रेरणा होती है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तो जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है; जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित रहते हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली-भाली सुन्दरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बन्धु को दुःख में देख, हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की तीव्रता का सापेक्ष विधान जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्यविभाग की पूर्णता के उद्देश्य से समझना चाहिए।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि-संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके सम्बन्ध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आयेगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन

का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्य को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य के साधन हों वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिये उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अन्तःकरण वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है, पर एक तो कृपा-अनुग्रह से आत्म-भाव छिपा रहता है और प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यन्त अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोविकारों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने भावी आचरण द्वारा दूसरे के सम्भाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील या साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है, बोलचाल की भाषा से तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता या मुरौवत ही का भाव समझा जाता है, जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं', दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर दुःखशीलता या दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह किसी अवसर पर बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिये कि वह उसे ठीक नहीं जँचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिये नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे।

मेरे विचार में तो 'सदा सत्य बोलना, बड़ों का कहना मानना' ये नियम के अन्तर्गत हैं, शील या सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं। इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत-सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्मग्रन्थों में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियम-भंग द्वारा अन्तःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दण्ड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील या सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष

नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है। मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बुद्ध-धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

पर उपकार सरिस न भलाई।
पर – पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्त्विक शील ही होता है। अतः करुणा और सात्त्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती है। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। क्रिया में तत्पर करनेवाली प्राणियों की आदि अंत करण वृत्ति मन या मनोवेग हैं। अतः इन मनोवेगों में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं! बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मन के वेग या प्रवृत्ति पर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे भावों या मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषय मात्र ढूंढ़ती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर भाव को और भावना को तीव्र करनेवाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है उसमें कभी-कभी दया या करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग से इस विषय की भावना किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है, वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अतः प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमें साधारण जनों के वास्तविक दुःख के परिज्ञान से होती है, वही करुणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारण जनों का तो हमें दुःख असह्य होता है, पर प्रियजनों के सुख का अनिश्चित ही। अनिश्चित बात पर सुखी या दुखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है, इसी से इस प्रकार के दुःख या करुणा को किसी-किसी प्रान्तिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय से

वियोग-जनित दुःख में करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती हैं—

वन को निकरि गये दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चले पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं राम लखन दोउ भाई।

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था; पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि—

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगे लैहै ?

और उद्धव से कहती हैं—

संदेसो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय, तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम करि कै न्हाते ॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतनि माखन रोटी भावै ॥
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वै है करत सँकोच ॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है; जैसे एक पति-वियोगिनी सन्देह करती है कि—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारन मैं जली, वही न जलता होय ॥

शुद्ध वियोग का दुःख केवल प्रिय के अलग हो जाने की भावना से उत्पन्न क्षोभ या विषाद है जिसमें प्रिय के दुःख या कष्ट आदि की कोई भावना नहीं रहती।

जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके

जीवन का बहुत-सा अंश उसी के सम्बन्ध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके संसार के एक प्रधान अंश का कट जाना या जीवन के एक अंग का खण्डित हो जाना है। किसी प्रिय या सुहृदय के चिरवियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किये हुए अन्याय या कुव्यवहार तथा उसकी इच्छा-पूर्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को सन्तुष्ट करने की सम्भावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है, यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी न किसी रूप में करुणा ही दिखायी देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन को स्वतः प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी सम्भावना है, इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है, वह उसे प्राणियों की बुद्धि-ऐसी चंचल और मुण्डे-मुण्डे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किसी युग में और किसी प्रकार मनुष्यों ने समाज-रक्षा के लिए एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत से वक्ता लोग ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं, तो हमारी दया मोटे, मुसण्डे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहिज लोगों पर नहीं, जिससे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिल्कुल उल्टा देखने में आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतना ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर

साहाच के जो व्याप्क उद्देश्य है उनका धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के, विशेषतया अपने परिचितों के, थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेगरहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चरती जा रही है।

करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत-सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखायी गयी है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवकों के प्रेम में फँस गयी हैं। कोमल भावों की योजना में दक्ष बंगला के उपन्यास लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यन्त संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या दूसरों से प्राप्त ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश-काल सम्बन्धी विस्तार बढ़ाता है। प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोविकारों की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है, पर जब हम सुनते हैं कि वह कई बड़े-बड़े अपराध कर चुका है, इसके आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा, तो हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि भावों या मनोविकारों के केवल सहायक हैं अर्थात् प्रकारान्तर से वे उनके लिये विषय उपस्थित करते हैं। वे कभी तो आप से आप विषयों को मन के सामने लाते है, कभी किसी विषय के सामने आने पर उससे सम्बन्ध (पूर्वापर व कार्य-कारण-सम्बन्ध) रखनेवाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सब के सब एक ही भाव के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भाव को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न-भिन्न भावों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से

उत्पन्न भावों को परिवर्तित या धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग या भावों को मन्द या दूर करनेवाली, स्मृति, अनुमान या बुद्धि आदि कोई दूसरी अन्तःकरण-वृत्ति नहीं है, मन का दूसरा भाव या वेग ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न सच्चा है। जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध निर्वाह पर जोर देते हैं, यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों के मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण सच्चा निर्वाह उसके लिये कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनन्दित होने के लिये अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश कठपुतली-सा जड़ होता जाता है। उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखण्डी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बनाकर कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो। बस हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार व्यवहार करना और बात; पर अनुसारी परिणाम के निरन्तर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी; पर जब बार-बार दया की प्रेरणा के अनुसार कोई परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा; यहाँ तक कि उसकी दया की वृत्ति ही मारी जायेगी।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहो किया जा सकता। पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेगों के अनुसार परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई

नौकर बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया तो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने को कौन कहे, उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पायें तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे दीन अकिंचन को देख जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य के करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री होती तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता, करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है। इससे राजा हरिश्चन्द के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से ठीक प्रतिकार भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १००० रु० उधार लिये तो न्याय यह है कि वह हमें १००० रु० लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दण्ड मिले। १००० रु० लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता, गिड़गिड़ाता और कान पकड़ता है तथा पूर्ण दण्ड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिये या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १००० रु० अलग किये, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेंत का सौदा नहीं। यदि न्यायकर्ता को करुणा है तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामले में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार-पाँच सौ अपने पास से दे दे या दण्डित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

●

यथार्थ और आदर्श

महादेवी वर्मा

सन्तुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहे न कहा जा सके, परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक दीर्घ काल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में यही त्रुटि विशेषता बनती आ रही है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर सम्भव है या दूसरी पर, किन्तु समन्वय के किसी भी रूप से हमारा हृदय जितना विरक्त है, बुद्धि उतनी ही विमुख। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढँके वीर हैं कि जीवन की स्थूलता हमें किसी ओर से भी स्पर्श नहीं कर सकती, या ऐसे मुक्त जड़वादी कि सम्पूर्ण जीवन बालू के अनमिल कणों के समान बिखर जाता है, या तो ऐसे तन्मय स्वप्नदर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नहीं कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामंजस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पड़ता है, या तो अलौकिकता के ऐसे अनन्य पुजारी हैं कि आकाश की ओर उद्ग्रीव रहने को ही जीवन की चरम परिणति मानते हैं, या लोक के ऐसे एकनिष्ठ उपासक कि मिट्टी में मुख गड़ाये पड़े रहने को ही विकास की परा-काष्ठा समझते हैं। आज जब बाह्य जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले राजनीति, समाज आदि के क्षेत्रों में भी हमारे इस एकांगी दृष्टिकोण ने हमें केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वंस में ही जीवित रहने पर बाध्य किया है, तब काव्य के सम्बन्ध में क्या कहा जावे, जिसमें हमारी सारी विषमताएँ अपेक्षाकृत निर्बन्ध विकास पा सकती हैं।

प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी विशेष अपूर्णता से सम्बन्ध रखने के कारण तीव्र और एकांगी होती है। यदि उसे भूत और भविष्य की एक समन्वयात्मक कल्पना से संचालित न किया जावे तो वह विकास का अवकाश न देकर विषमताओं की शृङ्खला बनाती चलती है। यह सत्य है कि जीवन की गतिशीलता के लिये क्रिया-प्रतिक्रिया दोनों की आवश्यकता रहती है। पर इस गति की लक्ष्यहीनता को विकास से जोड़ देना, हमारी दृष्टि की उसी व्यापकता पर निर्भर है, जो आकाश के नक्षत्र से धरती के फूल तक आ-जा सकती है।

साधारण रूप से गिरना, पड़ना, भटकना सभी अचलता से भिन्न हैं, परन्तु गति तो वही स्थिति कही जायगी, जिसमें हमारे पैरों में सन्तुलन और दृष्टिपथ में एक निश्चित गन्तव्य रहता है। प्रतिक्रिया की उपस्थिति किसी प्रकार भी यह नहीं प्रमाणित कर देती कि हमारे ध्वंसात्मक विद्रोह ने सृजन की समस्या भी

सुलझा ली है। यों तो आँधी और तूफान की भी आवश्यकता है, अतिवृष्टि और अनावृष्टि का भी उपयोग है, परन्तु यह कौन कहेगा कि वह आँधी-तूफान को ही श्वासोच्छ्वास बना लेगा, केवल अतिवृष्टि या केवल अनावृष्टि में ही बोये काटेगा। प्रत्येक उथल-पुथल में से निर्माण का जो तन्तु आ रहा है, उसे ग्रहण कर लेना ही विकास है; परन्तु यह कार्य उनके लिए सहज नहीं होता, जिनकी दृष्टि क्रिया-प्रतिक्रिया के उत्तेजक आज तक ही सीमित रहती है। ध्वंस में केवल आवेग की तीव्रता ही अपेक्षित है, पर निर्माण में सृजनात्मक संयम के साथ-साथ समन्वयात्मक दृष्टि की व्यापकता भी चाहिए। प्रासाद का गिरना किसी कौशल की अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु बिना किसी शिल्पी के, मिट्टी का कच्चा घर बना लेना भी कठिन होगा, इसी से प्रायः राजनीतिक क्रान्तियों के ध्वंसयुग के सूत्रधार निर्माण-युग में अपना स्थान दूसरों के लिए रिक्त करते रहे हैं।

काव्य-साहित्य और अन्य कलाएँ मूलतः सृजनात्मक हैं, अतः उनमें राजनीति के कार्य-विभाजन जैसा कोई विभाजन सम्भव ही नहीं होता। कोई भी सच्चा कलाकार ध्वंसयुग का अग्रदूत रहकर निर्माण का भार दूसरों पर नहीं छोड़ सकता, क्योंकि उसकी रचना तो निर्माण तक पहुँचने के लिए ही ध्वंस का पथ पार करती है। जिस प्रकार मिट्टी की क्रिया से गला और अपनी प्रतिक्रिया में अंकुर बनकर फूटा हुआ बीज तब तक अधूरा है, जब तक वह अपनी और मिट्टी की शक्तियों का समन्वय करके अनेक हरे दलों और रंगीन फूलों में फैल नहीं जाता, उसी प्रकार जीवन के विकासोन्मुख निर्माण में व्यापक न होकर केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वंस में सीमित रहनेवाली कला अपूर्ण है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न तो किया ही जा सकता है। यदि हम केवल लक्ष्य पर दृष्टि न रखें तो लक्ष्यभेद कैसे हो? उत्तर सहज और स्पष्ट है। जीवन केवल लक्ष्यभेद ही नहीं, लक्ष्य का स्थापन भी तो है। कलाएँ ही नहीं, जीवन की स्थूलतम आवश्यकताएँ भी मत्स्य की आँख को बाण की नोक से छेद देने के समान नहीं कही जा सकतीं। भोजन के एक ग्रास की इच्छा भी ईंधन-पानी से लेकर शरीर के रस तक किस प्रकार फैली है, कौन नहीं जानता?

मनुष्य यंत्र मात्र नहीं है, (आज तो यंत्रों के कलपुर्जे भी न सबके लिए स्पष्ट हैं, न रहस्य से शून्य) कि उनका सम्पूर्ण बाह्य और अन्तर्जगत् कुछ विशेष नियमों से संचालित हो सके। बाह्य जीवन को तो विधिनिषेध किसी अंश तक बाँध भी सकते हैं, परन्तु अन्तर्जगत् अपनी सूक्ष्मता के कारण उनकी परिधि से परे ही रहेगा। हमारा कोई भी स्वप्न, किसी प्रकार की भी कल्पना, कैसी भी इच्छा जब तक स्थूल साकारता नहीं ग्रहण करती, तब तक बाह्य संसार के निकट उसका

अस्तित्व नहीं है। परन्तु हमारे अन्तर्जगत् में तो उसकी स्थिति रहेगी ही और इस प्रकार वह रोग के कीटाणुओं के समान उपचारहीन क्षय भी करती रह सकती है और जीवनरस के समान स्फूर्ति का कारण भी बन सकती है। हमारे अन्तर्जगत् में पली हुई विषम भावना, विकृत कल्पना आदि के परिणाम में, प्रकट स्थूल रूप-रेखा की कमी हो सकती है, परन्तु जीवन को जर्जरित कर देनेवाली शक्ति का अभाव नहीं होता, इस सत्य को हमें स्वीकार करना ही होगा।

राजनीति और समाज के विधान हमारे इस सूक्ष्म जीवन को बाँध नहीं पाते। स्थूल धर्म और सूक्ष्म अध्यात्म भी इस कार्य में प्रायः असमर्थ ही प्रमाणित होते रहे हैं, क्योंकि पहला तो राजनीति के न्याय-विधान को ही परलोक में प्रतिष्ठित कर आता है और दूसरा सत्य को सौन्दर्यरहित कर देने के कारण केवल बुद्धिग्राह्य बनकर हृदय के लिए अपरिचित हो जाता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार बाह्य शारीरिक कुरूपता मनुष्य के सौंदर्यबोध को कुण्ठित नहीं कर देती, प्रत्युत् कभी-कभी और अधिक तीव्रता दे देती है, उसी प्रकार उसके बाह्य या अन्तर्जगत् की अपूर्णता उसे पूर्णता का सौन्दर्य देखने से नहीं रोकती। ऐसा कुत्सित मनुष्य मिलना कठिन होगा, जिसके अन्तर्जगत् से पूर्णता की प्रत्येक रेखा मिट गयी हो, सामंजस्य के आदर्श के सब रंग धुल गए हों। साधारणतः घोर मिथ्यावादी भी सत्य को सबसे अधिक सम्मान देता है। मलिनतम व्यक्ति भी पवित्रता का सबसे अधिक मूल्य निश्चित करता है। मनुष्य संसार के सामने ही नहीं, हृदय के एकान्त कोने में भी यह नहीं स्वीकार करना चाहता कि वह मिथ्या के लिए ही मिथ्यावादी है, मलिनता के प्रेम के कारण ही मलिन है। प्रायः वह सब व्यक्तिगत अपूर्णताओं और विषमताओं का भार परिस्थितियों पर डालकर, अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित किसी पूर्णता और सामंजस्य की प्रतिमा के निकट अपने-आपको क्षम्य सिद्ध कर लेता है।

यह अपूर्णता से पूर्णता, यथार्थ से आदर्श और भौतिकता से सूक्ष्म तत्त्वों तक विस्तृत जीवन, काव्य और कलाओं की उसी परिधि से घिर सकता है, जो सौन्दर्य की विविधता से लेकर सत्य की असीम एकरूपता तक फैली हुयी है।

विशेष रूप से काव्य तो हमारे अन्तर्जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों को, देशकाल से सीमित जीवन का स्थूल रूप-रेखा में इस प्रकार ढाल देता है कि वे हमारे लिए एक परिचयभरी नवीनता बन जाते हैं। उसका संस्पर्श तो बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा दूरागत रागिनी का, जिसकी लहरें बिना आहट के ही हमारे हृदय को पुलक-

कम्प से भर देती हैं, पर हमारे बाह्य-जीवन में ढला उसका रूप किसी प्रकार भी अशरीरी नहीं जान पड़ता।

काव्य का देश-काल से नियन्त्रित रूप विभिन्नता से शून्य नहीं हो सकता, परन्तु उसमें व्यक्त जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ परिष्कृत से परिष्कृत होती रहती हैं, बदलती नहीं। उनका विकास कली का वह विकास है, जो पंखड़ियों को पुष्ट और रंग को गहरा कर सकता है, गन्ध को व्यापकता और मधु को भारीपन दे सकता है, जीवन को पूर्णता और सौन्दर्य को सजीवता प्रदान कर सकता है, परन्तु कली को न तितली बनाने में समर्थ है, न गुबरीला।

जीवन की इसी विविधता और एकता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य ने यथार्थ और आदर्शवाद की, रूप में भिन्न पर प्रेरणा में एक, शैलियाँ अपनाई हैं। जीवन प्रत्यक्ष जैसा है और हमारी परिपूर्ण कल्पना में जैसा है, यही हमारा यथार्थ और आदर्श है और इस रूप में तो वे दोनों, जीवन के उतने ही दूर पास हैं, जितने जल की आर्द्रता से मिले रहने के कारण एक ओर उसे मर्यादित रखने के लिए भिन्न, नदी के दो तट। उनमें से केवल एक से जीवन को घेरने का प्रयास, प्रयास ही बनकर रह सकता है, उसे सफलता की संज्ञा देना कठिन होगा।

किसी भी युग में आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य, कुरुक्षेत्र के उन दो विरोधी पक्षों में परिवर्तित करके नहीं खड़े किए जा सकते, जिनमें से एक युद्ध की आग में जल गया और दूसरे को पश्चात्ताप के हिम में गल जाना पड़ा। वे एक दूसरे के पूरक रहकर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं, अतः काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका देकर जीवन में एक नयी विषमता उत्पन्न कर सकता है, सामंजस्य नहीं। न यथार्थ का कठोरतम अनुशासन आदर्श के सूक्ष्म चित्राधार पर कालिमा फेर सकता है, और न आदर्श का पूर्णतम विधान यथार्थ को शून्य आकाश बना सकता है।

जहाँ तक स्वप्न और सत्य का प्रश्न है, हमारे विकास-क्रम ने उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं रहने दिया, क्योंकि एक युग का स्वप्न दूसरे युग का सत्य बनता ही आया है। पाषाण-युग के वीर के लिए महाभारत के अग्निबाण स्वप्न ही रहे होंगे, कन्दरा में रहनेवाले मानव ने गगनचुम्बी प्रासादों की कल्पना को स्वप्न ही माना होगा और आदिम-युग के स्त्री-पुरुष ने एक पति-व्रत और एक पत्नी-व्रत का स्वप्न ही देखा होगा। हमारे युग की अनेक वैज्ञानिक सुविधाएँ पिछले युग के लिए स्वप्नमात्र थीं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।

जब एक युग अपनी पूर्णता और सामंजस्य के स्वप्न को इतनी स्पष्ट रेखाओं और इतने सजीव रंगों में अंकित कर जाता है कि आनेवाला युग उसे अपनी सृजनात्मक प्रेरणा से सत्य बना सके और जब आगत-युग, उस निर्माण से भी भव्यतम निर्माण का स्वप्न भावी-युग के लिये छोड़ जाने की शक्ति रखता है, तब जीवन का विकास निश्चित है।

इसी क्रम से स्वप्नों को सत्य बनाते-बनाते हमारे समाज, संस्कृति, कला, साहित्य आदि का विकास हुआ हैं। हमारी चेतना में चेतन परमाणुओं का जैसा समन्वय हैं, हमारे शरीर में जड़-द्रव्य का जैसा विकासमय सन्तुलन है और हमारी सभ्यता की व्यापकता में, हमारे हृदय और मस्तिष्क की वृत्तयों के साथ कार्यों का जैसा सामंजस्य है, वह ऐसी स्थिति में सम्भव नहीं हो सकता था, जिसमें आगत युग प्रत्येक साँस में, अपने अपूर्णतम यथार्थ के भी चिरञ्जीवी होने के शकुन मानना और पिछले युग के पूर्णतम स्वप्न की भी मृत्यु-कामना करना आरम्भ कर कर देता हैं।

देश-काल के अनुसार अनेक विभिन्नताओं के साथ भी नये युग की यात्रा वहीं से आरम्भ होगी, जहाँ पिछले युग की समाप्ति हुई थी। विकास-पथ में, चले मार्ग से लौटकर फिर अन्तिम छोर से यात्रा आरम्भ करना सम्भव नहीं हो सकता, इसी से पूर्ण स्वप्न के दान और उसके सृजनात्मक आदान का विशेष मूल्य है।

यह सत्य है कि विकास-क्रम में विषमताएँ भी उत्पन्न होंगी और प्रतिक्रियाओं का भी आविर्भाव होता रहेगा। परन्तु उनका उपयोग इतना है कि वे हमें दृष्टि के पुंजीभूत धुँधलेपन के प्रति सजग कर दें, क्षितिज की अस्पष्टता के प्रति सतर्क बना दें और विकास-सूत्र की सूक्ष्मता के प्रति जागरूकता दें। जहाँ तक प्रतिक्रिया का प्रश्न है, उसका आधार जितना अधिक जड़ भौतिक होता है, ध्वंस में उतनी ही अधिक उग्रता और सृजन में उतनी ही शिथिलता मिलती है। नींव-शेष ताजमहल गिरकर खँडहर मात्र रह जायगा, परन्तु टूटा हुआ पर मूल-शेष वृक्ष असख्य शाखा उपशाखाओं में लहलहा उठेगा।

काव्य में वही क्रिया-प्रतिक्रिया अपेक्षित हैं, जिसमें प्रत्येक ध्वंस अनेक सृजनात्मक रूपों को जन्म देता चलता है। उसका परिवर्तन-क्रम शोधे हुए संखिये के समान मारक शक्तियों को ही जीवनदायिनी बना देता है इसी से हमारे बाह्य परिवर्तन से वह लक्ष्यतः एक होकर भी प्रयोगतः भिन्न ही रहा है। क्रूरतम परिस्थितियों और विषमतम वातावरण में भी कलाकारों की साधना का राजमार्ग एक ही रहता है।

हमारे प्रत्येक निर्माण-युग की कलायें स्वप्न और सत्य, आदर्श और यथार्थ के बाह्य अन्तर को पार कर उनकी मूलगत अन्योन्याश्रित स्थिति को पहचानती रही हैं। इसी विशेषता के कारण, बहिरंग सौन्दर्य में पूर्ण ग्रीक मूर्तियों से भिन्न, हमारी विशाल मूर्तियाँ अपनी गुरु, कठोर और स्थूल मुद्राओं में सूक्ष्मतम रहस्य के वायवी संकेत छिपाए बैठी हैं। इसी गुण से, हम धूलि की व्यथा कहकर आकाश में मेघों को घेर लेनेवाली रागिनी और अन्तरिक्ष के अन्धकार को वाणी देकर पृथ्वी के दीपक जला देनेवाले राग की सृष्टि कर सके हैं। इसी सहज प्रवृत्ति से प्रेरित हमारा नृत्य केवल वासना जनित चेष्टाओं में सीमित न होकर जीवन की शाश्वत लय को रूप देता रहा है और चित्रकला नारी रूपों को सौन्दर्य और शक्ति के व्यापक सिद्धान्त की गरिमा से भूषित कर सकी है। इसी चेतना से अनुप्राणित हमारे काव्य सत् से चित् और चित् से आनन्द तक पहुँचते तथा सुन्दर से शिव और शिव से सत्य को प्राप्त करते रहे हैं।

जिन युगों में हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आकार मिला है और स्वप्न दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास सम्भव हो सका है। ध्वंसात्मक अन्धकार के युगों में या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महाशून्य हमारी दृष्टि को दिग्भ्रान्त करता रहा है या विषम और खण्डित यथार्थ के नीचे गर्त तथा ऊँचे टीले हमारे पैरों को बाँधते रहे हैं।

स्थूल उदाहरण के लिये हम रामायण और महाभारत-काल की परिणामतः भिन्न यथार्थ दृष्टियों को ले सकते हैं। परिस्थितियों की दृष्टि से, कर्तव्य-परायण और लोकप्रिय युवराज का, अभिषेक के मुहूर्त में अकारण निर्वासन, द्यूत में हारे हुए पाण्डवों के निर्वासन से बहुत अधिक क्रूर है। एक ओर पाँच पतियों और दूसरी ओर गुरुजन-परिजन से घिरी हुई अपमानित राजरानी की स्थिति से, सुदूर शत्रुपुरी में बर्बरों के बीच में बैठी हुई सहायहीन और एकाकिनी राज-तपस्विनी की स्थिति अधिक भयोत्पादक है। उत्तर भारत की आधी राजशक्तियों और उस क्रान्ति के सूत्रधार को लेकर युद्ध करने वाले योद्धाओं के कार्य से उस निर्वासित वीर का कार्य अधिक दुष्कर जान पड़ता है, जिसे विजातियों की सीमित सेना लेकर विदेश में व्यक्तिगत शत्रु ही नहीं, उस युग के सबसे शक्ति-शक्तिशाली उत्पीड़क का सामना करना पड़ा।

पर दोनों संघर्षों के परिणाम कितने भिन्न हैं! एक के अन्त में आर्य-संस्कृति की प्रवाहिनी उत्तर से दक्षिण-सीमान्त तक पहुँच जाती है, हमारे चरित्र का स्वर्ण परीक्षित हो चुकता है और हमारे सौन्दर्य, शक्ति और शील के आदर्श जीवन

में प्रतिष्ठा पाकर, उसे हिमालय के समान, सहस्र-सहस्र धाराओं में गतिशील पर मूल में अचल विशालता दे देते हैं।

दूसरी क्रान्ति के अन्त में अन्यायी और अन्याय से जूझनेवाली दोनों जूझ मरते हैं और इतना बड़ा संघर्ष कुछ भी सृजन न करके आगामी युग के लिए सीमाहीन मरु और उनके शून्य में मँडराता हाहाकार मात्र छोड़ जाता है। संग्रामभूमि में एक ओर न्यायपक्ष का कातर वीर इतना असमर्थ है कि निष्काम कर्म की वैसाखी के बिना खड़ा ही नहीं हो सकता और दूसरी ओर भीष्म ऐसे योद्धा ऐसे विरक्त हैं कि दिन भर क्रीत सैनिकों के समान युद्ध कर रात में विपक्ष को अपनी मृत्यु के उपाय बताते रहते हैं। एक जानता है प्रतिपक्षी का नाश हो जाने पर, उस महाशून्य में उसका दम घुट जायगा और दूसरा मानता है कि उस दुर्वह जीवन से मृत्यु अच्छी है। इन विषमताओं का कारण ढूँढने दूर न जाना होगा। रामायण-काल के यथार्थ के पीछे जो सामंजस्यपूर्ण निर्माण का आदर्श था, वही जीवन को सब अग्नि-परीक्षाओं से अक्षत निकाल लाया, पर महाभारत-काल की, व्यक्तिगत विरोधों में खण्डित और अकेली यथार्थ-दृष्टि कोई सृजनात्मक आदर्श नहीं पा सकी, जिसके सहारे उसका न्यायपक्ष उस ध्वंसयुग के पार पहुँच पाता।

हमारे अन्य विकासशील काव्य-युगों में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं। जिन यथार्थ-दर्शियों ने बीहड़ वनों में मार्ग बनाने, निर्जनों को बसाने और स्थूल जीवन की, यज्ञ से लेकर बीज तक संख्यातीत समस्यायें सुलझाने का मूल्य समझा, वे ही प्रकृति और जीवन में समान रूप से व्याप्त सौन्दर्य और शक्ति की भावना कर सके, ज्ञान की सूक्ष्म असीमता के मापदण्ड दे सके और अध्यात्म की अरूप व्यापकता को नाम-रूप देकर अखण्ड जीवन के अमर द्रष्टा बन सके। मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित्र में भी जिसकी यथार्थ-दृष्टि भ्रान्त न हो सकी, उसी कवि-मनीषी के सामंजस्य का आदर्श, क्रौञ्च पक्षी की व्यथा की थाह लेकर हमें प्रथम श्लोक और आदिकाव्य दे गया है।

हिन्दी का अमर-काव्य भी आदर्श की सीमाओं में यथार्थ का और यथार्थ के रंगों में आदर्श का जैसा विशाल चित्र अंकित कर गया है, उसमें अमिट रूप-रेखाएँ ही नहीं, जीवन का शाश्वत स्पन्दन भी है। मन्दिर-मसजिद की स्थूलता से लेकर अन्धविश्वास की आडम्बरपूर्ण विविधता तक पहुँचनेवाली कबीर की उग्र यथार्थ-दृष्टि, कठोर यथार्थदर्शी को भी विस्मित कर देगी, परन्तु विषम खण्डों से उलझी हुई यही यथार्थ-दृष्टि, बिना गुणों का सहारा लिये, बिना रूप-रेखा पर विश्राम

किये, अखण्ड अध्यात्म की असीमता नाप लेने की शक्ति रखती है। इसी से जुलाहे के ताने-बाने पर बुने गीत धरती के व्यक्त और दर्शन के गहन अव्यक्त को समान अधिकार दे सके हैं। तुलसी जैसे अध्यात्मनिष्ठ आदर्शवादी ने जीवन की जितनी परिस्थितियों की उद्भावना की है, जितनी मनोवृत्तियों से साक्षात् किया है, स्थूलतम उलझनों और सूक्ष्मतम समस्याओं का जैसा समाधान दिया है और अध्यात्म को यथार्थ के जैसे दृढ़ बन्धन में बाँधा है, वैसा किसी और से सम्भव न हो सका। क्रूर नियति ने जिसके निकट यथार्थ जगत् का नाम अन्धकार कर दिया था, उसी सूर से सूक्ष्मतम भावनाओं, कोमलतम अनुभूतियों और मिलन-विरह की मार्मिक परिस्थितियों का सबसे अधिक सजीव और नैसर्गिक चित्रण हुआ है। अमर प्रेम की स्वप्न-दर्शिनी मीरा के हाथ में ही यथार्थ का विष अमृत बन सका है।

जब हमने आदर्श को अमूर्त और यथार्थ को एकांगी कर लिया, तब एक बौद्धिक उलझनों और निर्जीव सिद्धान्तों में बिखरने लगा और दूसरा पाशविक वृत्तियों की अस्वस्थ प्यास में सीमित होकर घिरे जल के समान दूषित हो चला। एक ओर हम यह भूल गये कि आदर्श की रेखायें कल्पना के सुनहले-रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं, जब तक उन्हें जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जावे और दूसरी ओर हमें यह स्मरण नहीं रहा कि यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है। फलतः हमारे समग्र जीवन में जो ध्वंस का युग आया, उसे विदा देना उत्तरोत्तर कठिन होता गया। सत्य तो यह है कि सैनिक-युग, न बीते कल को सम्पूर्णता में देख सकता है, और न आगामी कल के सम्बन्ध में कोई कल्पना कर सकता है, क्योंकि एक उसकी जय-पराजय की भूली कथा में समाप्त है और दूसरा युद्ध की उत्तेजना में सीमित। और यदि सैनिक-युग के पीछे पराजय की स्मृतियाँ और आगे निराशा का अन्धकार हो तब तो उसके निकट जीवन और वस्तु-जगत् के मान ही बदल जाते हैं।

दुःख के सीमातीत हो जाने पर या तो ऐसी स्थिति सम्भव है, जिसमें मनुष्य दुःख से बहुत ऊपर उठकर निर्माण के नये साधन खोजता है, या ऐसी, जिसमें वह अपने आपको भूलने के लिये और कभी-कभी तो नष्ट करने के लिये किसी प्रकार के भी उपाय का स्वागत करता है। हमारा सुदीर्घ रीतियुग दूसरी आत्म-घाती प्रवृत्ति का सजीव उदाहरण है। संस्कृत-काव्य के उत्तरार्द्ध में भी यही सर्व-ग्रासिनी प्रवृत्ति मिलगी, जिसने काव्य ही नहीं, सम्पूर्ण कलाओं पर 'इति' की मुद्रा अंकित कर हमारी जीवन-शक्ति के अन्त की सूचना दी। अन्य उन्नत जातियों

के निर्वाण-युग की कलायें भी इसका अपवाद नहीं, क्योंकि जीवन का वह नियम, जिसके अनुसार बड़े से बड़े राजकुमार को भी घुट्टी में हीरा पीस कर नहीं पिलाया जा सकता, सबके लिए समान रहा है और रहेगा।

जो नारी माता, भगिनी, पत्नी, पुत्री आदि के अनेक सम्बन्धों से वात्सल्य, ममता, स्नेह आदि असंख्य भावनाओं की विविधता से, पुरुष को, भूमिष्ठ होने से चितारोहण तक घेरे रहती है और मृत्यु के उपरान्त भी उसे स्मृति में जीवित रखने के लिए उग्रतम तपस्या से नहीं हिचकती, उससे सत्य यथार्थ और उससे सजीव आदर्श, पुरुष को कहाँ मिलेगा ? उससे पुरुष की वासना का वह सम्बन्ध भी है, जो पशु-जगत् की साधारण प्रवृत्ति से बहुत ऊपर उठकर ही पुरुष को आज्ञाकारी पुत्र, अधिकारी पिता, विश्वासी भाई और स्नेही पति के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसी से निर्माण-युग का शूर भी, प्रकृति के समान ही अनेक रूपिणी मातृजाति के वरदानों के सामने नतमस्तक हो सका और उसके कृतज्ञ हृदय भौतिक ऐश्वर्य से लेकर दिव्य ज्ञान तक का नामकरण करते समय नारी-मूर्ति का स्मरण करता रहा।

जब पुरुष ने, सौन्दर्य और शक्ति के इसी यथार्थ को विकलांग और जीवन के इसी आदर्श को खण्डित बना, उसे अपने मदिरा के पात्र में नाप लेने का स्वाँग करते हुए आश्वस्त भाव से कहा—बस नारी तो इतनी ही है, तब उसने अपनी बुद्धि की पंगुता और हृदय की जड़ता की ही घोषणा की।

क्रमशः हमारे सामगान का वंशज संगीत, हमारी अर्चना में उत्पन्न नृत्य सब उस समाज-विशेष की पैतृक सम्पत्ति बन गये, जिसे केवल वासना की पूँजी से व्यापार करने का क्रूर कर्त्तव्य स्वीकार करना पड़ा।

सौन्दर्य के तारों से सत्य की झंकार उत्पन्न करनेवाले कवि उस सामन्तवर्ग के लिये विलास का खाद्य प्रस्तुत करने लगे, जो अजीर्ण से पीड़ित था, इसी से स्त्री नाम के व्यंजन को अनेक-अनेक रूपों में उपस्थित करना आवश्यक हो उठा।

रसों के असीम विस्तार और अतल गहरायी में कवि को निम्न वासना के घोंघे ही मिल सके और प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य की चिरन्तन सजीवता में पाशविक वृत्तियों के निर्जीव उद्दीपन ही प्राप्त हुये। क्या इस प्रवृत्ति में यथार्थता नहीं ? अवश्य ही है। अमृत सम्भाव्य हो सकता है, पर विष तो निश्चित यथार्थ ही रहेगा। एक हमारे स्वप्नों का विषय बनता है, कल्पना का आधार रहता है, खोज का लक्ष्य हो जाता है, फिर भी सहज प्राप्त नहीं; और दूसरा प्रत्येक स्थान और प्रत्येक स्थिति में प्राप्त होकर भी हमारे भय का कारण है, नाश का आकार

है और मृत्यु की छाया है। एक को हम महान् मूल्य देकर भी पाना चाहते हैं और दूसरा मूल्यहीन भी हमें स्वीकार नहीं।

एक सम्भाव्य आदर्श एक निश्चित यथार्थ से, एक मूल्यवान स्वप्न एक बेदाम स्थूल से अधिक महत्त्व क्यों रखता है? केवल इसलिये कि एक हमें जीवन का अनन्त आरम्भ दे सकता है, और दूसरा मृत्यु का सान्त परिणाम। इस सत्य को यदि हम तत्त्वतः समझ सकें तो रीतियुग की वासना का यथार्थ हमारे लिये नवीन उलझनों की सृष्टि न कर सकेगा। उस युग के पास यथार्थ दृष्टि नहीं, यह कहना सत्य नहीं हो सकता; परन्तु वह दृष्टि कठफोड़े की पैनी चोंच जैसी है, जो कठिन काठ को भी कुरेद-कुरेद उसमें छिदे कीड़े को तो उदरस्थ कर लेती है, पर उस काठ से उत्पन्न हरे पत्तों से निर्लिप्त, फूल से उदासीन और फल से विरक्त रहती है। वृक्ष का अनेकरूपी वैभव न उसे भ्रमर के समान गुंजन की प्रेरणा देता है, न कोकिला के समान तान लेना सिखाता है और न मधुमक्षिका के समान परिश्रम की शक्ति प्रदान करता है।

विकास-क्रम में पशुता हमारा जन्माधिकार है और मनुष्यता हमारे युग-युगान्तर के अनवरत अध्यवसाय से अर्जित अमूल्य निधि; इसी से हम अपने पूर्ण स्वप्न के लिये, सामंजस्यपूर्ण आदर्श के लिये और उदात्त भावनाओं के लिए प्राण की बाजी लगाते रहे हैं। जब हममें ऐसा करने की शक्ति शेष नहीं रहती, तब हम एक मिथ्या दम्भ के साथ पशुता की ओर लौट चलते हैं, क्योंकि वहाँ पहुँचने के लिये न किसी पराक्रम की आवश्यकता है और न साधन की।

हम अपने शरीर को निश्चेष्ट छोड़कर हिमालय के शिखर से पाताल की गहरायी तक सहज ही लुढ़कते चले आ सकते हैं, परन्तु उस ऊँचाई के सहस्र अंशों में से एक तक पहुँचने में हमारे पाँव काँपने लगेंगे, साँस फूल उठेगी और आँखों के सामने अँधेरा छा जायगा।

उस युग के सामने राजनीतिक पराजय, सामाजिक विशृंखलता और सांस्कृतिक ध्वंस का जो कुहरा था, उसे भेदकर जब कलाकार यथार्थ की यथार्थता भी न देख सके, तब उससे निर्माण के आदर्श और विकास के स्वप्न की आशा करना बालू के कणों से रस की आशा करना होगा। जो विराग की सूक्ष्म रेखाओं में बँधे और सम्प्रदाओं की स्थूल प्राचीरों से घिरे थे, उन्होंने भी अपने युग की अस्वस्थ प्यास ही को दूसरे नाम-रूप देकर धर्म-सम्मत बना लिया और जिन पर, संघर्ष में लगे आश्रयदाताओं को उत्तेजित करने का भार था, उनकी दृष्टि सामयिक संकीर्णता से लेकर, पक्ष के गुण और विपक्ष के दुर्गुणों की अतिरंजना में सीमित और एकरस हो गयी। इस प्रकार आदर्श से विच्छिन्न और यथार्थ से

विकलांग काव्य और कलाएँ पिघलते हुये बर्फ की अछोर शिला के समान अपने विद्युत् वेग में ध्वंस लिये हुए, नीचे हो उतरती चली आयीं। जहाँ उनकी गति रुकी, वहाँ आँखें मलकर हमने अपने सामने एक धुंधला क्षितिज और अपने चारों ओर एक विषम भूखण्ड पाया।

आदर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का बालक है, और यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक, अतः उनकी अन्योन्याश्रित स्थिति न ऊपर से कभी प्रकट हो सकती है और न भीतर से कभी मिट सकती है। उनकी गति विपरीत दिशोन्मुखी होकर भी जीवन की परिधि को दो ओर से स्पर्श करने का एक लक्ष्य रखती है।

यथार्थ को जैसे-जैसे हम देखते जाते हैं, वैसे-वैसे उसकी त्रुटियों को हमारी कल्पना की रेखायें पूर्ण करती चलती हैं, इसी से अन्त में हम उसकी विषमता पर खिन्न और सामंजस्य पर प्रसन्न होते हैं। उदाहरण के लिये हम एक चित्र को ले सकते हैं। उसमें एक बालक रंग के धब्बे ही देखेगा, साधारण व्यक्ति रंग के साथ आकार भी देख सकेगा, सहृदय कलाप्रेमी रंग, रेखा आदि में व्यक्त सामंजस्य या विषमता का भी अनुभव करेगा। यथार्थ से उसके मूलगत आदर्श तक पहुँचने का यह क्रम मनुष्य की सामंजस्यमूलक भावना के विकिसित रूप पर निर्भर रहता है। यथार्थ की त्रुटि जानने का अर्थ यही है कि हमारे पास उस त्रुटि से ऊपर का चित्र है, इसी से यथार्थ का वैषम्य उन्हें नहीं ज्ञात होता, जिनके पास सामंजस्य की भावना का अभाव रहता है। रेखागणित के समान यथार्थ को जान लेना ही हमें उसके निकट परिचय का अधिकारी नहीं बना सकता, क्योंकि जब तक हम उन तारों से अपने सामंजस्य का स्वर नहीं निकाल लेते, वह यथार्थ और हमारे जीवन का यथार्थ, जोड़-फल के साथ रखे हुये गणित के अंकों जैसे ही दुर्मिल बने रहते हैं। यथार्थ, यथार्थ से एक नहीं होता, अन्यथा हमारे घरों के खम्भे सहचर हो जाते और वृक्ष सहोदर बन जाते। एक एथार्थ दूसरी सामंजस्य-भावना का स्पर्श करके ही अपना परिचय देने में समर्थ हो पाता है और यह भावना जिसमें जिस अंश तक अधिक है, वह उसी अंश तक यथार्थ का उपासक है।

आदर्श का क्रम इससे विपरीत होगा, क्योंकि उसमें व्यक्त सामंजस्य की प्रत्येक रेखा हमें यथार्थ के सामंजस्य या विषमता की स्मृति दिलाती चलती है; इसी से यथार्थ ज्ञान से शून्य बालक के निकट किसी आदर्श का कोई मूल्य नहीं हो सकता। यदि किसी कारण से हम कल तक का उपार्जित यथार्थज्ञान भूल जावें, तो आज हमारे आदर्श का चित्रपट भी शून्य होगा। इस तरह जीवन में वह

यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नहीं, केवल शव है और वह आदर्श, जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं, प्रेत मात्र है।

साधारण रूप से हमारी धारणा बन गयी है कि यथार्थ के चित्रण के लिये हमें कुछ नहीं चाहिये; परन्तु अनुभव की कसौटी पर वह कितनी खरी उतर सकती है, यह कथन से अधिक अनुभव की वस्तु है। आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिये सापेक्षता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य रहेगी; इसी से एक की भावना जितनी कठिन है, दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नहीं। आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार पर निर्भर होने के कारण सहज नहीं, परन्तु एक बार भावन हो जाने पर उसकी अभिव्यक्ति यथार्थ के समान कठिन बन्धन नहीं स्वीकार करती। पूर्ण और सुन्दर स्वप्न देख लेना किसी असुन्दर हृदय और विकृत मस्तिष्क के लिये सहज सम्भाव्य नहीं रहता, पर जब हृदय और मस्तिष्क की स्थिति ने इसे सहज कर दिया, तब केवल अभिव्यक्ति-सम्बन्धी प्रश्न उसे व्यक्त होने से नहीं रोक पाते। विश्व के स्थूल से सूक्ष्मतम अनेक रूपकों के भरोसे, भाषा की कोमल से कठोर तक असंख्य रेखाओं की सहायता से और भावों के हलके से गहरे तक असंख्य रंगों के सहारे, वह बार-बार व्यक्त होकर सुन्दर से सुन्दरतम, पूर्ण से पूर्णतम होता रह सकता है। आदर्श के सम्बन्ध में अभिव्यक्ति की समस्या नहीं, परन्तु अभिव्यक्ति के ग्रहण का प्रश्न रहता है; क्योंकि व्यक्त होते ही वह यथार्थ की परिधि में आ जाता है और इस रूप में, उसे अपना पूर्ण परिचय देने के लिये, दूसरे की सामंजस्य-भावना की अपेक्षा होगी।

जैसे वीणा के एक तार से उँगली का स्पर्श होते ही, दूसरे का अपने आप कम्पन से भर जाना, उनके खिंचे-मिले रहने पर सहज और स्वाभाविक है, उसी प्रकार एक व्यक्त आदर्श की अव्यक्त प्रतिध्वनि अनुकूल संवेदनीयता में आयासहीन होती है।

यथार्थ की समस्या कुछ दूसरे प्रकार की है, क्योंकि जो व्यक्त और स्थूल है, उसे खण्डशः देख लेना कठिन नहीं, पर उन खण्डों में व्याप्त अखण्डता की भावना सहज प्राप्य नहीं। जीवन खण्ड-खण्ड में बिखरा, देशकाल में बँटा और रूप व्यष्टि में ढला है, परन्तु उसके एक खण्ड का मूल्य इसलिये है कि वह अखण्ड पीठिका पर स्थित है, उसकी सीमा का महत्त्व इसलिये है कि वह सीमातीत आधार-भित्ति पर अंकित है और उसके रूप का अस्तित्व इसलिये है कि वह अरूप की व्यापक समष्टि में ढला है। यदि हम एक सीमित खण्ड को पूर्ण रूप से घेर भी लें, तो जब तक उसे अशेष जीवन की व्यापक पीठिका पर शेष खण्डों के साथ रखकर नहीं देखते,

तब तक उसके कभी न घटने-बढ़नेवाले मूल्य का पता नहीं चलता और जब तक हमें इस मूल्य की अनुभूति नहीं होती, तब तक उससे हमारा परिचयजनित तादात्म्य संभव नहीं हो पाता।

हमारे शरीर की पूर्णता के ही लिये नहीं, उपयोग के लिए भी आवश्यक अंगों का शरीर से भिन्न कोई मूल्य नहीं, कोई महत्त्व नहीं और कोई जीवन नहीं। भानी चिकित्सक का ज्ञान बढ़ने के लिए चीर-फाड़ के काम में आनेवाले शरीर के अंश उसका ज्ञान बढ़ाकर स्वयं सजीव नहीं हो जाते।

कला को चाहे प्राकृतिक चिकित्सा भी कह लिया जावे, पर वह ऐसा शल्य-चिकित्सा-शास्त्र कभी नहीं बन सकती, जिसके जिज्ञासुओं के उपयोग के लिये, निर्जीव यथार्थ-खण्ड संवेदन-शून्यता के हिम में गाड़-गाड़कर सुरक्षित रक्खे जावें। कला के यथार्थ को सजीव तो रहना ही है, साथ ही जीवन की अशेष विशालता में अपने अधिकार का परिचय देते हुए निरंतर पाना और अविराम देना है; अतः उसकी सीमित स्थूल रेखा से लेकर सामान्य नियम तक सब अपने पीछे एक व्यापक सामंजस्य की भावना चाहते हैं। इस प्रकार यथार्थ का प्रत्येक खण्ड-जीवन, अखण्डजीवन के आदर्श पर आश्रित हुये बिना खण्ड ही नहीं रह सकता।

उदाहरण के लिये हम एक चतुर यथार्थ-शिल्पी द्वारा निर्मित कृश, दीन और अर्धनग्न भिखारी की मूर्ति को ले सकते हैं। अपनी संसारयात्रा में हमने ऐसे अनेक विरूप खण्ड देखे हैं, जिनके निकट ठहरने की, हमारे व्यस्त जीवन को इच्छा ही नहीं हुई। पर उस मूर्ति से साक्षात् होते ही हमारा जीवन अपने सम्पूर्ण आवेश से उसे घेर घेरकर उसी प्रकार आर्द्र करने लगेगा, जिस प्रकार तीव्र गतिवाला जलप्रवाह अपने पथ में पड़े हुए शिलाखण्ड की प्रदक्षिणा कर-करके उसे अपने सीकरों से अभिषिक्त करने लगता है। हमारा हृदय कहेगा—यह मेरा है! हमारी साँस पूछेगी—इतना अन्तर किस लिये? हमारी बुद्धि प्रश्न करेगी—ऐसा दैन्य क्यों? इस अन्तर का कारण स्पष्ट है। कलाकार ने जब उस खण्ड-विशेष को जीवन की अखण्ड पीठिका पर प्रतिष्ठित और सामंजस्य की व्यापक आधारभित्ति पर अंकित करके हमारे सामने उपस्थित किया, तब वह अपने स्थायी मूल्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध के साथ हमारे निकट आया और उस रूप में हमारे जीवन का सत्य उनकी उपेक्षा नहीं कर सका।

जीवन-पथ पर कंकड़-पत्थर के समान बिखरे और खण्डित यथार्थ को हम जो आत्मीयता नहीं देते, उसी को अयाचित दिलाने के लिए यथार्थ-वादिनी कलायें उन परिचित और उपेक्षित खण्डों को एक अखण्ड भावना के रहस्यमय

अंचल में बटोर लेती हैं। जब कला, जीवन की व्यापकता का भावन किये बिना मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के, कैमरे से खिंचे चित्रों को पास-पास चिपकाकर ही अपने चित्राधार को विराट बनाना चाहती है, तब वह रेखाओं के जितने निकट आ जाती है, जीवन से उतनी ही दूर पहुँच जाती है।

आदर्श व्यक्ति-विशेष की अखण्ड भावना को रूप देकर उसी रूप की रेखाओं में यथार्थ के संकेत व्यक्त करता है। इसी से उसका क्रम यथार्थ से भिन्न रहेगा। उदाहरण के लिए वह प्रतिमा पर्याप्त होगी, जिसमें कलाकार ने पूर्ण रेखाओं और प्रशान्त मुद्राओं की सीमा में एक असीम सामंजस्य की भावना भरकर शान्ति को नारी-रूपक में प्रतिष्ठित किया है। उसकी रेखा-रेखा से फूटती हुई सामंजस्य की किरणें हमारी वाष्प जैसी अरूप और हलकी भावना को धरती की मलिनता से बहुत ऊपर ले जाती हैं और वहाँ से उसे जल की बूँदों-सा, आर्द्रता में गुरु रूप देकर प्यासे कणों पर झर-झर बरसा देती हैं।

आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को, मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता हैं ओर हमारी खण्डित भावना को, अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है। जब आदर्श जलभरे बादल की तरह आकाश का असीम विस्तार लेकर पृथ्वी के असंख्य रंगों और अनन्त रूपों में नहीं उतर सकता, तब शरद् के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का धब्बा बना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है।

आदर्श यथार्थ की कला-स्थिति के सम्बन्ध में एक समस्या और भी है। आदर्श हमारे सत्य की भावना होने के कारण अन्तर्जगत् की परिधि में मुक्त हो सकता है और बाह्य जगत् में केवल व्यापक रेखाओं का बन्दी रहकर अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है। परन्तु यथार्थ हमारी भावना से बाहर भी, कठिन स्थूल बन्धनों के भीतर एक निश्चित स्थिति रखता है, अतः उसे इस प्रकार व्यक्त करना कि वह हमारा भी रहे और अपनापन भी न खोये सहज नहीं। दिव्य पारिजात के साथ, पुष्पत्व की व्यापक और संसार भर के फूलों के लिये सामान्य सीमा के अति-रिक्त रंग, आकार, वृन्त, पल्लव आदि के संकीर्ण बन्धन नहीं हैं, इसी से हम रंगों के ऐश्वर्य, रूपों के कोष और पल्लव तथा वृन्तों की समृद्धि में से अपनी भावना के अनुकूल चुनाव करके उसे साकारता दे सकते हैं और हमारी इस साकारता के लिए यथार्थ हमसे कोई प्रश्न नहीं कर सकता।

इसके विपरीत गेहूँ की एक बाली का भी चित्र बनाने में हमें एक विशेष रंग खोजना होगा, पत्तियों को यथार्थ अंकित करना पड़ेगा, वृन्त को निश्चित आकार-प्रकार देना होगा, दानों को यथातथ्य स्थिति में रखना होगा और इतने बन्धनों के भीतर अपनी भावना के मुक्त स्पन्दन से, इस संघात-विशेष में सजीवता की प्रतिष्ठा करनी होगी।

यथार्थ के सम्बन्ध में हम दार्शनिक के समान यह कहकर सन्तोष नहीं कर सकते कि इसका रंग हमारे नेत्रों ने देखा, कोमलता त्वचा ने स्पर्श की, गन्ध घ्राणेन्द्रिय को मिली, स्वाद रसना ने ग्रहण किया और स्वर श्रवण को प्राप्त हुआ, इसलिये यह हमारे स्पर्श, श्रवण, घ्राण, स्वाद और दृष्टि की समष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वैज्ञानिक की तरह उसके रंग-रूपों के वैचित्र्यभरे संग्रह को गला-मिलाकर जड़ द्रव्य का संघातमात्र बना लेना भी, कलाकार को लक्ष्य तक नहीं पहुँचाता। बालकों के प्रथम पाठ 'आ' से 'आदमी' के समान संज्ञा-ज्ञान बढ़ाना भी कलागत यथार्थ की चरम परिणति नहीं।

यथार्थ स्वयं ही जड़ की सचेतन अभिव्यक्ति है, अतः इस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति का प्रश्न सरलता ही में जटिल है। कलाकार का प्रत्यक्ष सबका प्रत्यक्ष हैं; इसलिये केवल नवीन रूपों के परिचय से दूसरों के प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि बढ़ाने के लिये उसे उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक दौड़ लगा-लगाकर भौगोलिक विभिन्नताओं में जीवन के विविध रूपों का संग्रह करना होगा।

हम अपने घर के सामने, न जाने कब से समाधिस्थ सूखे ठूँठ की रेखा-रेखा पहचानते हैं। अपने द्वार पर कोमल पौधे से कठोर प्रहरी बने हुए नीम को हम, पाताल में बन्दी चरणों से लेकर आकाश में उन्मुक्त शिखा तक जानते हैं। इनका प्रत्यक्ष सम्बन्धी ज्ञातव्य हम कलाकार से पूछने नहीं जायँगे। परन्तु उजाली रात में आदमी, अँधेरी में प्रेत और दिन में सूखा काठ बन जानेवाले ठूंठ की अनेक स्थितियाँ ऐसी हैं, जिनसे हम परिचित नहीं। इसी प्रकार वसन्त में मोतियों के चूर से जड़े मरकत-परिधान में झूमते और पतझर में चरणों पर बिछे पीले पत्तों के निष्फल वैभव पर अवाक् जैसे नीम की सभी परिस्थितियों की सीमा हम नहीं समाप्त कर सके हैं।

यथार्थ का कलाकार प्रत्यक्ष रेखाओं में किसी अपरिचित तथा अप्रत्यक्ष स्थिति को इस प्रकार अंकित करेगा कि उसका प्रत्यक्ष हमारे प्रत्यक्ष पर फैल जावे और उसकी परिधि के भीतर हमें अप्रत्यक्ष का सौन्दर्य, जीवन की अखण्ड सजीवता के साथ प्राप्त हो सके।

इस सम्बन्ध में यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी अपरिचित और अप्रत्यक्ष परिस्थितियाँ न तो ठूँठ की सुलझी रेखाओं में निश्चित अंकगणित बन चुकी हैं और न नीम की उलझी शाखाओं में स्थायी रेखागणित हो गयी हैं। वे तो कलाकार की भावना में अस्तित्व रखती हैं। और वह भावना जो इन सब परिस्थितियों में व्यापक और सब प्रत्यक्ष रेखाओं के लिये सामान्य हो सकती है, जीवन का अखण्ड आदर्श है।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसा यथार्थ आदर्श से भिन्न क्यों माना जावे? उत्तर उनकी जीवन को व्यक्त करनेवाली विभिन्न शैलियों में मिलेगा, जिनके कारण एक का इति दूसरे का अथ बन जाता है। आदर्शवादी कलाकार जीवन की व्यापक भावना को पहले देकर उसके संकेतों में यथार्थ को अंकित करता है। इसी से अनेक रूपकों-उपरूपकों में ढला परिचित प्रत्यक्ष, अपरिचित अप्रत्यक्ष को साकारता देकर ही सफल होता है।

यथार्थवादी, प्रत्यक्ष का सीमित शरीर देकर हमें उसके व्यापक और अप्रत्यक्ष स्पन्दन की अनुभूति देता है और आदर्शवादी, व्यापक जीवन का भावन देकर हमें उसके सीमित रूपों का पता बताता है। दोनों का क्रम दोहरा अतएव कठिन है। इसी से प्रायः एक कलाकार अपनी सृष्टि को केवल अन्तर्जगत् में घेर लेता है और दूसरा अपने निर्माण को केवल बाह्य जगत् में बिखरा देता है। एक के पास रंग ही रंग रह जाता है और दूसरे के पास मिट्टी ही मिट्टी, अतः एक ओर मिश्रित रंगों में सिद्धान्तों की रेखाहीन चित्रशाला प्रस्तुत की जाती है और दूसरी ओर धूल के खिलौनों का रंगहीन मेला लगाया जाता है। ऐसी स्थिति में आदर्श और यथार्थ को सजाने का क्रियाकलाप अन्तिम संस्कार के समारोह-सा विवश, करुण पर निश्चित हुये बिना नहीं रहता। यह क्रम तब तक नहीं बदलता जब तक कलाकार के जीवन का सत्य, सौन्दर्य में प्रतिष्ठित होने के लिये विद्रोह नहीं कर उठता। और यह विद्रोह सम्भव हो जाता है, तब कलाकार कठिनाइयों की चिन्ता न करके कण-कण से शिला बने आडम्बर को उसी सहज भाव से छिन्न-भिन्न कर डालता है, जिस सरलता से माँ के भृकुटि-भंग पर हँसता हुआ बालक फीके खिलौने को फेंककर चूर-चूर कर देता है। तब वह आदर्श और यथार्थ के बीच की खाइयों को जीवन के सहज संवेदन से भरता हुआ उस देश में जा पहुँचता है, जहाँ स्वप्न, सत्य का अनुमान है और सौन्दर्य, उसका प्रमाण, सूक्ष्म, विश्व-चेतना का संचरण है और स्थूल, उसका आकार-ग्रहण।

हमारे चारों ओर एक प्रत्यक्ष जगत् है। उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमारी ज्ञानेन्द्रियों से लेकर सूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्रों तक विस्तृत करणजगत्

बन चुका है और बनता जा रहा है। बाह्य जगत् के सम्बन्ध में विज्ञान और ज्ञान की विचित्र स्थिति है। जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है, उसने इन्द्रियजन्य ज्ञान में सबसे पूर्ण प्रत्यक्ष को भी अविश्वसनीय प्रमाणित कर दिया है। अपनी अपूर्णता नहीं, पूर्णता में भी दृष्टि, रंगों के अभाव में रंग ग्रहण करने की क्षमता रखती है और रूपों की उपस्थिति में भी उनकी यथार्थता बदल सकती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर, अनुमान, स्मृति आदि की अप्रत्यक्ष छाया फैली रहती है। पर इतना सब कह-सुन चुकने पर भी यह स्पष्ट है कि ऊपर नीलिमा के स्थान में खोखला आकाश, टिमटिमाते ग्रह-नक्षत्रों के स्थान में अधर में लटककर वेग से घूमनेवाला विशाल ब्रह्माण्ड और पैरों तले समतल धरती के स्थान में ढालू और दौड़ते हुए गोलाकार का अनुभव कर प्रसन्न न हो सकेंगे। हमें यह विशिष्ट ज्ञान उपयोग के लिये चाहिये, पर उस उपयोग के उपभोग के लिए हम अपना सहज अनुभव ही चाहते रहेंगे। इसी कारण वैज्ञानिक ज्ञान को सीखकर भूलता है और कलाकार भूलकर सीखता है।

यथार्थ के सम्बन्ध में यदि केवल वैज्ञानिक दृष्टि रखें, तो वह काव्य को लक्ष्य-भ्रष्ट कर देगी, क्योंकि आनन्द के लिए उसकी परिधि में स्थान नहीं। विज्ञान का यथार्थ, स्वयं विभक्त और निर्जीव होकर ज्ञान की उपलब्धि सम्भव कर देता है; पर काव्य के यथार्थ को, अपनी सीमित सजीवता से ही एक व्यापक सजीवता और अखण्डता का परिचय देना होगा। और केवल ज्ञानाश्रयी कवि यथार्थ को ऐसे उपस्थित करने की शक्ति नहीं रखता।

साधारणतः मनुष्य और संसार की क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न ज्ञान, अनुभूति सब, संस्कारों का ऐसा रहस्यमय ताना-बाना बुनते चलते हैं, जो एक ओर हृदय और मस्तिष्क को जोड़े रहता है और दूसरी ओर जीवन के लिए एक विस्तृत पीठिका प्रस्तुत कर देता है। जिसके पास यह संस्कार-आकाश जितना व्यापक, सामंजस्यपूर्ण और सुलझा हुआ होगा, वह यथार्थ को उतनी ही सफल जीवन-स्थिति दे सकता है। इस संस्कार की छिन्न-भिन्नता में हमें ऐसा यथार्थवादी मिलेगा, जो जीवन को विरूप खण्डों में बाँटता चलता है और इसके नितान्त अभाव में ऐसा विक्षिप्त सम्भव है, जो सुख-दुःखों का अनुभव करने पर भी उन्हें कोई सामान्य आधारभित्ति नहीं दे पाता।

संसार में प्रत्येक सुन्दर वस्तु उसी सीमा तक सुन्दर है, जिस सीमा तक वह जीवन की विविधता के साथ सामंजस्य की स्थिति बनाये हुये है और प्रत्येक विरूप वस्तु उसी अंश तक विरूप है, जिस अंश तक वह जीवनव्यापी सामंजस्य को छिन्न-भिन्न करती है। अतः यथार्थ का द्रष्टा जीवन की विविधता

में व्याप्त सामंजस्य को बिना जाने, अपना निर्णय उपस्थित नहीं कर पाता और करे भी तो उसे जीवन की स्वीकृति नहीं मिलती। और जीवन के सजीव स्पर्श के बिना केवल कुरूप और केवल सुन्दर को एकत्र कर देने का वही परिणाम अवश्यम्भावी है, जो नरक-स्वर्ग की सृष्टि का हुआ।

संसार में सबसे अधिक दण्डनीय वह व्यक्ति है, जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला, क्योंकि उस चित्र ने मनुष्य की सारी बर्बरता को चुन-चुनकर ऐसे ब्योरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने-कोने में नरक गढ़ा जाने लगा। इसके उपरान्त, उसे यथार्थ के अकेले सुखपक्ष को पुंजीभूत कर इस तरह सजाना पड़ा कि मनुष्य उसे खोजने के लिये जीवन को छिन्न-भिन्न करने लगा।

एकान्त यथार्थवादी काव्य में यथार्थ के ऐसे ही एकांगी प्रतिरूप स्वाभाविक हो जाते हैं। एक ओर यथार्थद्रष्टा केवल विरूपतायें चुनकर उनसे जीवन को सजा देता है और दूसरी ओर उसके हृदय को चीर-चीरकर स्थूल सुखों की प्रदर्शनी रचता है। केवल उत्तेजक और वीप्साजनक काव्य और कलाओं के मूल में यही प्रवृत्ति मिलेगी। इन दोनों सीमाओं से दूर रहने के लिए कवि को जीवन की अखण्डता और व्यापकता से परिचित होना होगा, क्योंकि इसी पीठिका पर यथार्थ चिरन्तन गतिशीलता पा सकता है।

यथार्थ यदि सुन्दर है, तो यह पृष्ठभूमि तरल जल के समान उसे सौ-सौ पुलकों में झुलाती है और यदि विरूप है, तो वह तरल कोमलता हिम का ऐसा स्थिर और उज्ज्वल विस्तार बन जाती है, जिसकी अनन्त स्वच्छता में छोटा-सा धब्बा भी असह्य हो उठता है। इस आधार-भीत्ति पर जीवन की कुत्सा देखकर हमारा हृदय काँप जाता है, पर एक अतृप्त लिप्सा से नहीं भर आता।

यदि यथार्थ को केवल इतिवृत्त का क्रम मान लिया जावे, तो भी व्यक्तिगत भावभूमि पर अपनी स्थिति रखकर ही वह काव्य के उपयुक्त संवेदनीयता पा सकता है। इस भावभूमि से सर्वथा निर्वासित इतिवृत्त का सबसे उपयुक्त आश्रय-स्थल इतिहास ही रहेगा।

चरम सीमा पर यथार्थ जैसे विक्षिप्त गतिशील है, वैसे ही आदर्श निष्क्रियता में स्थिर हो जाता है। एक विविध उपकरणों का बवंडर है और दूसरा पूर्ण निर्मित पर अचल मूर्ति। साधारणतः जीवन में एक ही व्यक्ति यथार्थदर्शी भी है और आदर्श स्रष्टा भी, चाहे उसका यथार्थ कितना ही अपूर्ण हो और आदर्श

कितना ही संकीर्ण। जीवन की ऐसी स्थिति की कल्पना तो पशुजगत् की कल्पना होगी, जिसमें बाह्य संसार का ज्ञान मनुष्य के अन्तजगत् में किसी सम्भाव्य संसार की छाया नहीं आँकता। जो है, उसके साथ हमारे सक्रिय सहयोग के लिए यह कल्पना आवश्यक है कि इसे कैसा होना चाहिए।

संसार से आदान मात्र मनुष्य को पूर्ण सन्तोष नहीं देता, उसे प्रदान का भी अधिकार चाहिए और इस अधिकार की विकसित चेतना ही आदर्श का पर्याय है। छोटा-सा बालक भी दूसरे की दी हुई वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए जितना उत्सुक होगा, उन्हें अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार रखने, जोड़ने-तोड़ने आदि के लिए भी उतना ही आकुल मिलेगा। सभ्यता, समाज, धर्म, काव्य आदि सभी मनुष्य और संसार के इसी चिरंतन आदान-प्रदान के इतिहास हैं।

साधारण रूप से आदर्श से यही समझा जाता है कि वह सत्य की जय, असत्य की पराजय आदि आदि जीवन में असम्भव पर कल्पना में सम्भव कार्य-कारण का नाम है। इस धारणा के कारण हैं। सम्भाव्य यथार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले अन्तर्जगत् के संस्कार हमारे बाह्य आचरण पर विशेष प्रभाव डालते हैं, इसी से समय-समय पर धर्म, नीति आदि ने उन्हें अपने विकास का साधन बनाया। जिस युग का प्रधान लक्ष्य धर्म रहा, उसमें सत्य, त्याग आदि गुणों के आदर्श चरम सीमा तक पहुँचकर ही सफल हो सके। जिस युग का दृष्टिबिन्दु सामाजिक विकास था, उसमें कर्त्तव्य सम्बन्धी आदर्श उच्चतम सीमा तक पहुँच गये। जिस समय संघर्ष की सफलता ही अभीष्ट रही, उस समय जय के आदर्श की उज्ज्वलता में साधनों की मलिनता भी छिप गयी। जब, जो विशेषता आवश्यक नहीं रही, तब उससे सम्बन्ध रखनेवाला असाधारण आदर्श, जीवन के पुरातत्व विभाग की स्थायी सम्पत्ति बना दिया गया और साधारण आदर्श, गौण रूप से प्रयोग में आता रहा। कुरुक्षेत्र के युग में हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता का कोई स्थान नहीं, राम के संघर्ष में बुद्ध की अहिंसा का कोई महत्त्व नहीं।

युग-विशेष में उत्पन्न कवियों ने भी अपने युग के आदर्श को असाधारणता के साथ काव्य में प्रतिष्ठित किया। इतना ही नहीं, वह आदर्श कहीं भी पराजित न हो सके, इसकी ओर भी उन्हें सतर्क रहना पड़ा। फिर भी यह सत्य है कि वे एकांगी नहीं हो सके।

काव्य हमारे अन्तर्जगत् में मुक्ति का ऐसा अनुभव कर चुकता है कि उससे बाह्य जगत् के संकेतों का अक्षरशः पालन नहीं हो पाता। रामायणकार ऋषि का दृष्टिबिन्दु कर्तव्य के युग से प्रभावित था अवश्य, पर उसने युग-प्रतिनिधि

कर्तव्यपालक की भी त्रुटियों को छिपाने का प्रयास नहीं किया। राजा के चरम आदर्श तक पहुँचकर भी वह जब साध्वी पर परित्यक्त पत्नी की फिर अग्नि-परीक्षा लेना चाहता है, तब वह नारी उस कर्तव्यपालक के पत्नीत्व के बदले मृत्यु स्वीकार कर लेती है। जीवन के अन्त में एकांगी कर्तव्य की जैसी पराजय ऋषिकवि ने अंकित की है, उसकी रेखा-रेखा में मानो उसका भ्रू-भंग कहता है—बस, इतना ही तो इसका मूल्य था।

विजय केन्द्रबिन्दु होने पर भी महाभारत में असत्य साधनों को उज्ज्वलता नहीं मिल सकी। संघर्ष सफल हो गया, कहकर भी कवि ने उस सफलता की उजली रेखाओं में ग्लानि का इतना काला रंग भर दिया है कि विजयी ही नहीं, आज का पाठक भी काँप उठता है।

जीवन के प्रति स्वयं आस्थावान होने के कारण कवि का विश्वास भी एक आदर्श बनकर उपस्थित होता है। शकुन्तला की आत्महत्या तो सरल सौन्दर्य और सहज विश्वास की हत्या है; उसे कवि कल्पना में भी नहीं अंगीकार करेगा, पर उस सौन्दर्य और विश्वास को ठुकरानेवाले दुष्यन्त के पश्चात्ताप में से वह लेशमात्र भी नहीं घटाता। इतना ही नहीं, जिस पवित्र सौन्दर्य और मधुर विश्वास की प्राप्ति एक दिन कण्व के साधारण तपोवन में अनायास ही हो गयी थी, उसी के पुनर्दर्शन के लिए दुष्यन्त को स्वर्ग तक जाने का आयास भी करना पड़ता है और दिव्यभूमि पर, अपराधी याचक के रूप में खड़ा भी होना पड़ता है।

सारांश यह कि अपने युगसीमित आदर्श को स्वीकार करके भी कवि उसे विस्तृत विविधता के साथ व्यक्त करते रहे हैं। जैसे शिष्य के बनाये पूर्ण चित्र में भी कलाकार-गुरु अपनी कुशल उँगलियों में थमी तूली से कुछ रेखाएँ इस तरह घटा-बढ़ा देता है, कहीं-कहीं रंग इस तरह हल्के-गहरे कर देता है कि उसमें एक नया रहस्य यत्र-तत्र झलकने लगता है, वैसे ही प्राचीन ऋषि कवियों ने अपने युग को निश्चित रेखाओं और पक्के रंगों के भीतर से युगयुगान्तरव्यापी जीवनरहस्य को व्यक्त कर दिया है। आज का युग उनसे इतना दूर है कि उस रहस्यलिपि को नहीं पढ़ पाता; अतः केवल निश्चित रंग-रेखा को ही सब कुछ मान बैठता है।

आधुनिक युग में बुद्धि का आदर्श भी वैसा ही असाधारण हो गया है, जैसा किसी समय सत्य, त्याग, कर्तव्य आदि का था। सत्य की विजय अनिवार्य है या मिथ्या का बुरा परिणाम अवश्यम्भावी है, आदि में कार्य-कारण की सम्भाव्य स्थिति भी निश्चित मान ली गयी है। परन्तु बौद्धिक विकास की चरम सीमा ही मनुष्य की पूर्णता है, भौतिक उत्कर्ष ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, आदि में

भी वैसा ही कल्पित कार्य-कारण सम्बन्ध है, क्योंकि जीवन में न तो सब जगह बुद्धिवादी ही पूर्ण मनुष्य है और न भौतिक विकास का चरम बिन्दु जीवन की एकमात्र सार्थकता है। जब हमारा युग भी अतीत युगों में स्थान पा लेगा, तब नवागत युग हमारे असाधारण बौद्धिक और भौतिक आदर्शों को उसी दृष्टि से देखेगा, जिस दृष्टि से हम अपने अतीत-आदर्श-वैभव को देखते हैं।

आधुनिक युग के आदर्शों में ही असाधारणता नहीं, उनकी काव्यस्थिति भी वैसी ही एकांगी है। आज का कवि भी अपने युग के आदर्शों को काव्य में प्रतिष्ठित करता है और उनकी एकान्त विजय के सम्बन्ध में सतर्क रहता है। पर आदर्श को सकीर्ण अर्थ में न ग्रहण करके यदि हम उसे जीवन की एक व्यापक और सामंजस्यपूर्ण स्थिति का भावन मात्र मान लें, तो वह हमारे एकांगी बुद्धिवाद और बिखरे यथार्थ को सन्तुलन दे सकता है।

आज के युग के सामने निर्माण का जैसा विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र है, उसे देखते हुए हम आदर्श और यथार्थ सम्बन्धी प्रश्नों को बौद्धिक व्यायाम मात्र नहीं मान सकेंगे।

कोई भी जाति अपने देशकालगत यथार्थ के निरीक्षण और परीक्षण के बिना वर्तमान का मूल्यांकन नहीं कर पाती और सम्भाव्य यथार्थ की कल्पना के बिना भविष्य की रूपरेखा निश्चित करने में असमर्थ रहती है। यह कार्य साहित्य और कला के क्षेत्र में जितना सहज, सुन्दर और संप्रेषणीय रूप पा लेता है, उतना जीवन के अन्य क्षेत्रों में सम्भव नहीं। सच्चा कलाकार व्यावसायिक कम, पर संवेदनशील अधिक होता है, अतः उसकी दृष्टि यथार्थ में सन्तुलित और आदर्श के सम्बन्ध में व्यापक रहकर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचती है। लक्ष्य से ऊपर दृष्टि रखकर हम लक्ष्यवेध करने में समर्थ हो सकते हैं, पर उससे नीचे दृष्टि को केन्द्रित कर लक्ष्य को छू पाना भी सम्भव नहीं।

हमारा सुन्दर स्वप्न और उसे साकारता देने का दृढ़ संकल्प हमारे सूक्ष्म मनोजगत् में मुक्त है, परन्तु हमारो क्रिया शारीरिक शक्ति और व्यवहारजगत् की परिस्थितियों में सीमित रहेगी। अपनी शक्ति और विशेष परिस्थितियाँ एक व्यक्ति दूसरे को दे नहीं पाता, पर अपने स्वप्न को अखंड सौन्दर्य के साथ और अपने संकल्प को संपूर्ण प्राण-प्रवेग के साथ वह दूसरे के अन्तर्जगत् में इस तरह संप्रेषित कर सकता है कि दूसरा व्यक्ति अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार उन्हें साकारता देने के लिए विकल हो उठे। कलाकार की प्रेरणा भी ऐसी ही अन्तर्मुखी होती है, अतः इसे सक्रियता देने के लिए यथार्थ का ज्ञान नहीं, सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श का भावन भी आवश्यक रहेगा।

●

अशोक के फूल

हजारीप्रसाद द्विवेदी

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे, लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है! बहुत सोच-समझकर कंदर्पदेवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसीलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में और इसीलिए जीवन में भी इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी ले लेते थे पर उसी प्रकार, जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिञ्जनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचचल शोभा को सौ-गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कंदर्प-देवता के

अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-की-त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया कौन काट सका ? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी ? सहृदयता क्या लुप्त हो गयी थी ? कविता क्या सो गयी थी ? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जलेपर नमक तो यह है कि एक तरंगायित पत्र वाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके।

लेकिन मेरे मानने न मानने से होता क्या है ? ईसवी सन् के आरम्भ के आसपास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्‌भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पंडितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येत्तर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे, और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे। लेकिन कन्द्रर्प-देवता हार मानने वाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्ध-धर्म को नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को पराजित किया और शाक्त साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह ! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गन्धर्व आये—न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू-रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्‌भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की

भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है ? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है ? न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था ? शरीर जलकर राख हो गया और वामन-पुराण (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी, वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया ! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम-की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई, स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया ! स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं !

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। इस कथा का रहस्य क्या है ? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच में फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं ? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले ?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं—यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुबेर, सोम, अप्सराएँ—यद्यपि बाद के ब्राह्मण-गन्थों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गये हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं। यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों की स्त्रियाँ प्रायः नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के

चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्मग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तांत्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है ? मेरा मन प्राचीन काल के कुंझटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं ?

यह मुझे प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनि-जात मान ली गईं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने कभी नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का देश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवासभूमि है। इनका समाज सम्भवतः उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पण्डित 'पुनालुअन सोसायटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम ! परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व स्थिति में नहीं थे और राक्षसों, असुरों की भाँति व्यापार वाणिज्य वाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्ती काल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गन्धर्व सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी बातें क्यों रटी जायँ ? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का

भाव नहीं रहा। **असुर, राक्षस, दानव** और **दैत्य** पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालू आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इन सबको बड़ी अद्‌भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सब में देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मद-नोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राजघरानों में साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त करादिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हल्की रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास ! किशलयों और कुसुम-स्तवकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-सम्भार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त पुष्पों की अंजलि बिखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर पूछता है कौन ? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है ? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है ! केवल उतना ही याद रखती है जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये, साम्राज्य ढह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट

गई। सन्तानकामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने, यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया!

मुझे मानवजाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवनधारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब-कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सबकुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है; पर इस दुर्दम धारा में सब-कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवनी-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन-देवता का गर्व-खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुंठनृत्य से ध्वस्त हो जायेगा, कौन जानता है! मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी। आज अशोक के पुष्प स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूँ और जिनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायँगी; कौन जानता है! मैं क्या शौक से उदास हुआ हूँ? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसल दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहें हैं। कालिदास जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्प को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करने वाला बताया था—अवश्य हो शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो—'किशलय-प्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः!'—परन्तु शाखाओं में लम्बित वायुलुलित किशलयों

में भी मादकता है। मेरी नस-नस से आज करुण-उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी ? और सम्राटों-सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था वह लुप्त हो गई; धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्थ समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गई, तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल में खिला हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा ? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती धसकेगी। उसके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जायेगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया। पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्त्वों के शिरोमणि बन गये। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गये, शैव बह गये, शाक्त बह गये। उन दिनों 'श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलनलीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था ? कौन बतायेगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्ममत की सृष्टि हुई थी। अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है !

मगर उदास होना भी बेकार है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का सांवेग धावन चल निकलता तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहाँ बदली है ? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखनेवाला उदास होता

है। वह अपने को पण्डित समझता है। पण्डिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहा! अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है! कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ, पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है।

तमाल के झरोखे से

विद्यानिवास मिश्र

मैं जहाँ तीन-चार बरसों से रह रहा हूँ, उस घर का नाम है—पी-१, गोपालकुंज। आते ही सघन छाया वाले तमाल पर पृष्टि गयी, याद नहीं किसने इसको पहचनवाया, क्योंकि इसे पहचानते ही लगा कि कब से इसे पहचानता हूँ। काली कालिन्दी को इसी ने अपनी घनी काली छाया से और काला भँवर बना दिया, इसी ने गोरी राधा के उज्ज्वलनील प्यार की छाँह और सघन, और सार्द्र कर दी। इसको मैं हर वसन्त में झरते और झीने-झीने फूलों से भरते देखता हूँ, हर वर्षा में इसे सघन पत्र-जाल का छत्र बना देखता हूँ, इसकी छाँह में जो रसवर्षा होती है वह बाहर की रसवर्षा से कहीं अधिक जोरदार होती हैं, यह तमाल दोनों रसवर्षाओं से भीग-भीगकर सिहरता रहता है। इसकी छाया में कितना अन्धकार सिमटता है, उस अन्धकार में वृषभानु की दमकती दुलारी राधा श्यामा हो जाती है और श्याम घनश्याम हो जाते हैं, श्यामाश्याम की रसकेलि से भीगी वनभूमि श्यामा हो जाती हैं। मेरी साहित्य-स्मृति के तमाल और इस तमाल में और भी जाने कितनी समानताएँ हैं! जैसी बाजू वाले तमाल की उपेक्षा है, वैसी ही उपेक्षा साहित्य के तमाल की भी है, अध्यापकों ने इसकी बहुत दुर्दशा की है, कभी इसे ताड़ बताया और ताड़ की छाँह को घनी देखना बस ताड़ के रस की कृपा से ही संभव है, किसी ने तमाखू के पत्ते को तमाल-पत्र कहा (तमाखू का दरख्त कैसा शानदार होता है, यह तो तमालपत्र के आस्वादक ही बतला सकेंगे), किसी ने कुछ भी बुद्धि में नहीं धंसा तो इसे वृक्ष-विशेष कह दिया, गनीमत है इसे विष-विशेष नहीं कहा, पंचतंत्र के किसी बँगला संस्करण में उष्ट्र को पक्षि-विशेष बतला दिया गया है, तमाल के बारे में बस इतना ही रहा कि काला होता है, बहुत काला होता है, अब काले की क्या विशेष पहचान? मेरे बाजू वाले तमाल की दुर्दशा की सुनिये। मैं आया तो दो प्रोफेसर बँगलों के बीच वाली सड़क के बीच में खड़ा था, दो-दो मोटरों के आने में रुकावट होती थी, कमबख्त अपनी डालों में जमीन तक बींध लेता था, इसको छँटाई शुरू हुई, इसका वृत्ताकार छत्र यकायक एक दिन सप्तमी का चन्द्रमा बन गया। गाड़ी के चालक परेशान थे कि इसके नीचे चैत के महीने में गाड़ी खड़ी करें तो इसके झीने फूलों से इतना रस चूता है कि गाड़ी बदरंग हो जाती हैं, इन फूलों का दाग छुटाये नहीं छूटता। पर मैं कन्हैयालाल मुंशी विद्यापीठ का निदेशक, मुझसे सह्य नहीं हुआ और मैंने इसकी

आगे छँटाई रोक दी, पर एक ओर का परिपार्श्व सूना होकर रहा और एक कोटर नंगा होकर रहा। मैंने कोशिश की, इसे और गौरव दूँ, आजू-बाजू के मकानों को पी-१, पी-२ की जगह तमाली वाम, तमाली दक्षिण क्यों न लिखवा दूं, पर अपने जोड़ीदार वित्त अधिकारी ने इतनी-सी पटिया के लिए आश्वासन तो दिया, स्वीकृति नहीं दी और मेरा आवास पहले जैसा पी-१ ही बना हुआ है।

इन दिनों यह तमाल बड़ा उदास है, एक-एक करके इसकी सघन नीलिमा के दल-के-दल मुरझाते, पियराते और झहराते जा रहे हैं, हर रोज इतने पत्ते नीचे जमा हो जाते हैं कि उन्हें जलाकर सिमटते हुए जाड़े को और सिमटाया जा सकता है, ढलते माघ की रात झली जा सकती है। जाने क्यों मैं भी बसन्त में बहुत उदास हो जाता हूँ। मेरे स्वर्गीय मित्र राममित्र कहा करते थे, 'पार्टनर, तुम्हें विरही स्वभाव मिला है। रागरंग, महक और गमक के दिनों में तुम्हारा हृदय विहरता रहता है।' मैं यह भी नहीं जानता, किसके लिए विहरता है, पर विहरने लगता है तो एक के बाद एक निपट अकेलेपन के क्षण नाचते हुए सामने चले आते हैं, मृत्यु के साक्षात्कार के विह्वल क्षण झल-झल झलकने लगते हैं, आँखों से सदा के लिए ओझल हुए प्रियजन गुमसुम सामने आ जाते हैं, जैसे प्रतीक्षा कर रहे हों कि मैं उनसे कुछ पूछूँ। किससे-किससे पूछूँ और क्या-क्या पूछूँ! मेरे बचपन के ऊपर जो तमाल की छाँह बनी छायी रही, वह दीदी बीमार पड़ी, मैं आठ साल का रहा हूँगा, बीमार पड़ी, गाँव में जो चिकित्सा संभव थी, वह की जा रही थी, एक वैद्य थे, बोले, आज की रात कट जाये तो आशा है, बच जाये। मेरे मन में आया, सूर्य से एकान्त में प्रार्थना करूँ कि तुम आज ढलो मत, रात आये ही नहीं, मेरी दीदी बच जायेगी। मैं अनाज के कोठार पर चला गया, सारा घर व्याकुल था, कौन मुझे देखता, मैं अकेला पच्छिम ओर की खिड़की की ओर मुँह किये सूरज से विनती करता रहा। आज भी याद है, शुक्रवार का दिन था, काफी तेज़ गर्मी पड़ रही थी, सूरज तप रहा था, उसने सुना नहीं और ढल गया, रात आयी, दीदी चली गयी। जाने के पहले एक बार उसके चेहरे पर अद्भुत आभा आयी थी। मेरा पहला एकान्त और एकाग्र तप विफल हो गया। उसके बाद दीदी शब्द भी नहीं सुना जाता। वाणी की, प्रार्थना की वाणी की व्यर्थता का वह पहला अनुभव आज भी ताजे घाव की तरह करकता है। देखते-देखते कई मित्र गये, कई आत्मीय सम्बन्धी गये, सबने एक-एक डाल छिनगायी, सबने एक-एक कोटर उघारे। तमाल की जो डाल कट जाती है, वह फिर नहीं पनपती, तब भी सूनेपन में एक प्यास जगती है, वही जीवन बनती है, वही जीवन की सुरभि बनती है, वही मृगमद बनकर बेचैन करती है, दौड़ाती है, वही जीवन

को दूसरों के लिए आस्वाद्य, दूसरों के लिए ग्राह्य और दूसरों के लिए गेय बनाती है, पर मेरे साथ यह कुछ भी घटित नहीं होता, जीवन की आकांक्षा तमालगन्धी परम्परा में पले होने पर भी उतनी दुर्दम्य नहीं हो पाती इसीलिए मन आज कुछ और उदास है, शायद इसलिए भी कि अब उदास भी नहीं हुआ जाता। उदासी के लिए अब एकान्त नहीं है, यहाँ तक कि उदासी के लिए कोई अलग क्षण नहीं है। इस उदासी में मैं तमाल को भी कभी-कभी नहीं देख पाता, तमाल की छाया में छने हुए अन्धकार को भी अनदेखा कर जाता हूँ, अन्धकार में झीने हुए नीले प्रकाश के विग्रह को भूल जाता हूँ। पर काले पड़े हुए ग्रह की तरह पड़ जाता हूँ, बत्तियाँ गुल कर देता हूँ और रात दहशत बन जाती है। मेरा मन इस दहशत की छाया में अविश्वासी बन जाता है, और तब वसन्त बहुत भारी पड़ता है।

अब देखिए मेरी जड़ता का चरम उत्कर्ष, मैंने तमाल की बात शुरू की और इतना खुदगर्ज हो गया कि अपना ही टंटा लेकर बैठ गया, तमाल को एकदम भूल गया। आदमी और पेड़ में यही तो अंतर है कि पेड़ स्वभाव से परार्थी है, आदमी स्वभाव से स्वार्थी है। तमाल एक काला काठ है उकठा हुआ, उसकी झुर्रियाँ गाँठ बन चुकी हैं। वृन्दावन के निधुवन में एक तमाल का पेड़ है, उसे शायद बिजली चीर गयी है, आधा पेड़ एकदम सूख गया है पर अभी भी एक डाल है जिसमें पत्ते हरे हैं। जाने कौन जीवन की दुर्दम्य आकांक्षा उसे हरा रखे हुए है। मृत्यु की यन्त्रणा को कैसे झेला जाता है, यह बस तमाल से कोई सीखे। आजकल जब इसकी पोर-पोर का दर्द उभर रहा है, पोर-पोर की नसें टूट रही हैं, मृत्यु इसके समूचेपन को मथ रही है, तब यह कल्पना भी नहीं होती कि इस पेड़ में कभी जीवन आयेगा, लगता यही है, वह पेड़ अब मरा, कि तब मरा।

और चैत चढ़ा नहीं कि मृत्यु की यन्त्रणा काली कस्तूरी की उद्दाम सुगन्धि बन कर समस्त वातावरण को उन्मद कर देती है। मृत्यु की नाभि में जीवन की ऐसी मनोहर गन्ध छिपी हुई है, सहसा इस पर विश्वास नहीं होता। पर वसन्त का तो यही लक्षण है, बाहर-भीतर से तोड़कर एक भीतर के सुवास के कोश को फोड़कर बगार देता है और इतनी दूर तक बगारता है कि खुद पेड़ उस सुवास के लिए व्याकुल होकर इधर-उधर नाचने लगे। महाभाव के अन्तर्यामी कवि जयदेव तमाल के इस वासन्ती गुण पर रीझे हुए हैं, कहते हैं कि कस्तूरी की गन्ध को जबरदस्ती इसकी नयी पंखुड़ियों ने अपने काबू में कर रखा है, उसका रस खींच रखा है (मृगमदसौरभरभसवशंवद नवतमालवनमाले)। तभी से तमाल के फूल में निरी उन्मादी गन्ध नहीं, अनन्त रस भी है। तमाल वसन्त की प्रकृति को पहचानता है, तभी वह काठ से रस बन सकता है और रस

बनता भी है तो अपने लिए नहीं, कन्हाई के लिए रस बनता है। कन्हाई अपनी रसप्रियता की तलाश में कुंज में पहुँचते हैं और वसन्त में ऐसे डूबते हैं कि रसप्रिया आती हैं और वे देख नहीं पाते, राधा को लगता है, चैतन्य के श्यामल प्रवाह में ऐसी बेहोशी कि अपनी रसमय प्रतिकृति उपस्थित हो और उस उपस्थिति का उन्हें भान न हो। वसन्त प्रिया-प्रीतम दोनों ओर उद्दाम आकांक्षा की ऐसी औड़ी लहर बन जाता है कि मिलन होता भी है तो राधा कृष्ण को नहीं पातीं, श्रीकृष्ण को नहीं पातीं, श्रीकृष्ण की पोर-पोर में उपही हुई राधा को ही पाती हैं और श्रीकृष्ण के रस में डूब कर जब उतराती हैं तो श्रीकृष्ण से कहती हैं, मुझे ऐसे साजो कि अंग-अंग में तुम्हारी श्यामता छा जाये, मेरी आँखों में काजल बनकर चमको, मेरे माथे पर कस्तूरी के तिलक बनो, मेरे हृदय के ऊपर कस्तूरी के लेप बनो, मेरे फिर से कसे हुए केशपाश बनो, उसमें मुझे कली में रूपान्तरित करके उसमें अपने हाथों से गूँथ दो और कहती रहती हैं कि यदुनन्दन, मैं अस्त-व्यस्त हो उठी हूँ तुम्हारे साथ रम कर, मुझे वैसा कर दो जैसी मैं आयी थी। जैसो श्रीकृष्ण-आकांक्षा का ज्वार लेकर आयी थो, वही आकांक्षा फिर भर दो। मिलने का यह सुख भी क्या कि दुरन्त विरह की तड़पन तत्काल न बन जाये ! रस का मर्म जो नहीं जानते, उनके लिए जयदेव का 'गीतगोविन्द' सम्भोग-शृंगार का काव्य है, ऐन्द्रिय प्यार का ओछा चित्रण है। पर क्या यह निरा ऐन्द्रिय व्यापार है जिसमें एक-दूसरे की एकाकारता के लिए तड़पे और एकाकार होने पर भी फिर से उस बिन्दु को लौटना चाहे, जहाँ से एकाकारता की तड़पन शुरू हुई थी और क्या प्यार की सघनता, प्यार का सर्वग्रासी प्लावन ऐन्द्रिय व्यापारों की सघनता के बिना संभव है ? क्या बिछुड़न मिलन के स्वप्न और मिलन के यथार्थ के द्वन्द्व के बिना कभी तीव्र हो सकती है ? ये प्रश्न रसमर्मी के मन में सहज ही उभरते हैं, जब वह 'गीतगोविन्द' डूब कर पढ़ता है या उससे भी अधिक जब वह 'गीतगोविन्द' को अभिनय की प्रस्तुति में किसी छन्दमय देह में उतरते देखता है। तब वह स्वयं विस्थापित हो जाता है, तमाल की चैती गन्ध की तरह वह एकदम बेसुध हो उठता है। वह तब देह नहीं देखता, वह देही की थिरकन देखता है, देह में ही वह दिव्यता की थिरकन दिखायी पड़ती है, और यही देह की सार्थकता है। यही मानुष जन्म की सार्थकता है कि पुरुष नारी के लिए या नारी पुरुष के लिए जब आकर्षण से खिचकर आकांक्षा करे, यह केवल प्यार का प्रारम्भ हो, यह स्नेह की वह पहली बूंद हो, जो पानी से भरी थाली में गिरती है तो फैलते-फैलते थाली की बारी तक चली जाती है और थाली को कितना भी धोइए थाली को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होती, कुछ-न-कुछ लगी ही रहती है, उल्टे धोनेवाले हाथ को स्नेहिल कर देती है। प्यार पाना कोई लक्ष्य में लक्ष्य है, प्यार

होना, निरा प्यार होना इस जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पानेवाले को कानी उँगली चीरनी पड़ती है, उसी में से अमृत निकलता है पानेवाले को मन मथना पड़ता है, उसी की चिकनाई तो दुर्निवार विस्तार बनती है, पानेवाले को अहंकार का दुर्ग तोड़ना होता है, उसे उस दुर्ग से बाहर निकालना होता है, उसे कुंज में लाना होता है, संगमर्मरी फ़र्श से बालू के धरातल पर लाना होता है, मखमली सेज से उठाकर करील की छाँह में स्थापित करना होता है, पानेवाले को ऐसा कर देना होता है कि वह पाये भी तो उस पाने को पाना नहीं, लुटना समझे। प्यार अगर प्राप्ति बन कर रहे तो वह दूभर गठरी हो जाये, प्यार तो केवल लुटना है, वंचित होना है। तभी वह विश्वास की तरह अनायास भीतर भर जाता है। दौड़े-दौड़े आये, गाड़ी छूट गयी, जाने अब कब मिलेगी, यही पछतावा ही प्यार का वास्तविक लक्षण है।

एक लुटी राधा हैं, श्रीकृष्ण को भूलना चाहती हैं और श्रीकृष्ण आकुल प्राणों के झंकार बन गये हैं, उन्हें लोग प्रयत्न करने पर याद नहीं कर पाते और राधा प्रयत्न करने पर उन्हें बिसरा नहीं पातीं, उनका छल, उनका लूटना यही एकमात्र अनुभव बना रहा है, और सभी अनुभव अयथार्थ हो गये हैं। एक लुंठित श्रीकृष्ण हैं, उनसे प्यार करनेवाले उन्हें कोसते हैं, और उनसे द्वेष करनेवाले उन्हें कोसते हैं, बड़ा जालिम है, इस कारे के काटे लहर नहीं। भक्त कहते हैं कि एकदम अकिंचन बना के रख देता है, सारे वस्त्र उतरवा लेता है, एकदम नंगा कर देता है, धर्म-अधर्म कुछ भी नहीं रहने देता। सगे बन्धु-बान्धव कहते हैं, यह किसी का नहीं, यह केवल विपत्ति का है। श्रीकृष्ण सब सुनते हैं और मुसकाते हैं, पर क्या वे स्वयं निरन्तर टूटते नहीं हैं, लोगों को इतना तोड़नेवाला क्या स्वयं टूटने से बचेगा? इतना लूटनेवाला कहीं लुटने से बचेगा? नहीं, वे टूटते ही रहते हैं, गोपियों से, गोपों से, राधा से, मथुरा से, गोकुल से, वृन्दावन से, फिर मथुरा से, द्वारका से, हस्तिनापुर से, इन्द्रप्रस्थ से, फिर प्रभास से, अन्त में अपनी उस मधुरमूर्ति से जिससे उन्होंने असंख्य-असंख्य जनों को तोड़ा—पूरा जीवन उनका टूटना ही तो है।

बचपन में महाभारत के कृष्ण बड़े प्रेरक लगते थे, उनकी निर्ममता बड़ी मोहक लगती थी, पर अब उनका अकेलापन ही अधिक खींचता है। इतने बड़े परिवार में, इतने प्यार की भीड़ में वे निपट अकेले हैं। बहेलिया क्या तीर मारेगा, बिद्ध तो पहले से ही हैं! छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस ऋषि और देवकीपुत्र कृष्ण की कथा आती है, घोर आंगिरस श्रीकृष्ण को जीवन की ऐसी दीक्षा देते हैं कि पूरे जीवन को यज्ञ की प्रक्रिया समझो और मृत्यु को यज्ञ-समाप्ति

का अवभृथ स्नान मानो। अंतिम उपदेश देते हुए कहते हैं—तुम प्राणशंसित हो, प्राणों को तेज धार ने तुम्हें चीर दिया हैं। श्रीकृष्ण के इस प्राणशंसित रूप की बड़ी ललक होती हैं, क्योंकि मुझे लगता है कि राधा ही उनके प्राणों की तेज धार है, राधा ने श्रीकृष्ण को श्रीकृष्ण नहीं रहने दिया है, उन्हें उसकी मुस्कान की वह पीड़ा बना दिया है, जो उनको याद दिलाती रहती है, जो पाने योग्य था, उसे पाकर खो दिया, जिसे पा रहे हो, उसमें तुम खोते जा रहे हो। तुम्हें कोई नहीं समझता, लोग समझते हैं, तुमने वृन्दावन और गोकुल इसीलिए छोड़ा कि तुम्हें मथुरा का उद्धार करना था, पर उनको यह भूल है। तुमने गोकुल, वृन्दावन इसलिए छोड़ा कि तुम देख रहे थे कि मैं बचूँगा नहीं, ढह जाऊँगा, इतना प्यार मुझे किसी का काम नहीं रखेगा, मैं राधा के चरणों का चिह्न बनकर रह जाऊँगा। तुम अपने को बचाना चाहते थे, पर किससे भागे, अपने से ही न भागे! क्या भाग पाये? बहुत खोये, पर किशोरावस्था के वसन्त में जो खोये थे, वही खोना तो पाना रहा और खोना तो एक नाटक था, इन्हें खेलना था, खेले, एक बिंधे हुए भाव से खेले।

आज मुझे यह आविद्ध रूप बहुत खींचता है, इसलिए नहीं कि मैं आविद्ध हूँ, बल्कि इसलिए कि वैसा आविद्ध होना कैसा होता है, इसे जानना चाहता हूँ। मैं हजार तरह से आविद्ध रहा हूँ, पर ये आवेध सुई की चुभन हैं, कभी बेहोश करने वाले, कभी एक दर्द देकर दूसरा दर्द हरने वाले, केवल भ्रम पैदा करने वाले कि तुम ठीक हो रहे हो। मैं उस विष से बुझे हुए तीर से आविद्ध होना चाहता हूँ, जो जाति के अभिमान के उफान से पैदा होता है। श्रीकृष्ण को जो तीर लगा था, वह उस लोहे का टुकड़ा था, जिसे यादव अपनी सत्ता के मद में नये गर्भ का आभास बना कर ऋषि के पास ले गये थे, साम्ब को बहू बनाया था, उसके पेट पर यह टुकड़ा बाँधा था और ऋषि को परीक्षा लेनी चाही थी कि बतलाओ इसे लड़का होगा या लड़की? ऋषि ने शाप दे दिया था, न लड़का होगा न लड़की, इससे तुम्हारी जाति का विनाश होगा। यादव घबरा गये, उन्होंने वह टुकड़ा चूर-चूर कर दिया, समुद्र के किनारे उसे बिखेर दिया। वह तेज धार वाली घास बनकर उगा, शराब के नशे में ग़र्क यादवों ने उसी को उखाड़-उखाड़ कर एक-दूसरे को मारा, सभी नष्ट हो गये। श्रीकृष्ण भी यादव थे, उन्होंने ही यादवों का गणराज्य स्थापित किया था, पाँच-पाँच समूहों को एकत्र किया था, एक सूत्र में बाँधा था। कहीं-न-कहीं इस दृप्त शक्ति के उत्थान में वे भी थे और उस लोहे का एक टुकड़ा चूरा नहीं बना, कहीं छिटक गया। मछली के पेट में गया, मछली पकड़ते समय निषाद को फिका हुआ मिला, उससे उसने तीर की

नोंक बना ली। श्रीकृष्ण उससे बिंधे। मैं भी सोचता हूँ कि केवल मुझे ही नहीं, मेरी पूरी जाति को उस तीर से बिंधना चाहिए, एक मिथ्या अभिमान की मार झेलनी चाहिए कि हम व्यवस्था के नियामक हैं, उस भाव ने कितना हमें नष्ट किया है, कितना पंगु, कितना निरुपाय किया है, इसकी चुभन हमें महसूस करनी चाहिए।

पर नहीं, इससे भी बड़ा एक आविद्ध भाव है, किसी ने उसे गोपीभाव कहा, किसी ने राधाभाव, किसी ने महाभाव, किसी ने समष्टि चेतना, किसी ने ईश्वर में परानुरक्ति, किसी ने केवल प्यार, उससे बिंधना चाहता हूँ, बिंध के अपने पुंभाव की व्यर्थता का अनुभव करना चाहता हूँ, नारीभाव की श्रेष्ठता को समझना चाहता हूँ, यह आत्मनिषेध को विधि रूप में वरण करने वाला नारी-भाव ओढ़नी ओढ़ कर नाचने से नहीं आता, न आता है अपने को राधा की सहचरी मानने से, यह केवल मिटने से आता है, चुपचाप मिटने से आता है, बेखुद होने से आता है।

तमाल के पत्ते झर रहे हैं। उसका सघन श्यामल वितान छिन्न-भिन्न होता जा रहा है, उसकी श्याममयता चिन्दी-चिन्दी उड़ती जा रही है। वह उघरता जा रहा है, सूना आकाश उसे घेरता जा रहा है। उसका सारा अभिमान देखते-देखते टूटता जा रहा है कि मैंने सघन छाँह दी, मैंने राधा-माधव की रसकेलि को निभृत निकुंज की सुख-सुविधा दी, मैंने प्यार का रस पहचाना। वह मिट रहा है, क्योंकि वह जानता है कि वह पहचान अधूरी थी, और मिटो, और पहचान के संस्पर्श बन कर नये सिरे से शिराओं में गरम लहू बनकर दौड़ो, तुम्हारी गाँठ-गाँठ कोमल कली बन जाये, कंचन-कली बन जाये, सुगन्ध बन जाये, रस बन जाये, 'गीतगोविंद' की गूँज बन जाये। इसीलिए वह वसन्त में मिट लेता है और मैं यह मिटना सीख नहीं पाता, कभी सीख पाऊँगा, इसकी भी कोई सम्भावना नहीं देखता। मेरी उदासी बाजू के तमाल की उदासी से कहीं अधिक तीखी है, क्योंकि वह उदासी भी पूरी नहीं है, बस नींद की, सूर्य की, अर्धतन्द्रा है। यह वसन्त उसे और दुस्साह जरूर बना देता है। मेरे भीतर वसन्त को न्यौतने का साहस नहीं, झेलने की तैयारी नहीं, वसन्त में मिटने का भाव नहीं, बस तिल-तिल कटने की अपरिहार्यता है। जिन्दगी कुछ ऐसी ही बेदर्द है कि दुख का संकल्प भी नहीं लेने देती, दुख में मिटने का संकल्प भी नहीं लेने देती। इतनी नादान है कि नीचे गिरे हुए पत्तों सरीखे झूठे सुख के सपने बीनती रहती है। यह न जलना जानती है, न सरसना, केवल गीली लकड़ी की तरह धुआँ बनना जानती

है, अपने लिए भी, दूसरों के लिए भी घुटन बनना जानती है। काश, बाजू के तमाल से सीख लेती, समूची-की-समूची मिटती और समूची-की-समूची मिटकर महकती। फिर कहाँ धरती की आकांक्षा की ऊर्ध्वग शिखा तमाल और कहाँ घुटकर मरी हुई हसरतों का मज़ार आदमी! बड़ा फ़र्क है, दूसरों का और अपना होने में।

●

अतीत : एक आत्म-मन्थन

निर्मल वर्मा

हम प्रायः अतीत के फैसलों को अपने समय में निपटाते हैं। हमारा वर्तमान—एक जमाने में—हमारे पूर्वजों का भविष्य रहा होगा। उन्होंने अपने भविष्य के बारे में जो स्वप्न देखे थे, हम आज उन स्वप्नों के भोक्ता हैं, शिकार हैं, उन्हें स्वीकार करते हैं, या उनसे जूझते हैं। इसलिए कोई भी जाति संकट की घड़ी में अपने अतीत, अपनी जड़ों को टटोलती है। संकट की घड़ी आत्म-मन्थन की घड़ी है। और सही आत्म-मन्थन हमेशा अतीत में लिये गये फैसलों के आस-पास होता है, क्योंकि ठीक उन फैसलों के बीच हमारी नियति की धड़कन व्याप्त रहती है।

हम आज संकट के जिस भयावह दौर से गुजर रहे हैं, वहाँ भावी समाज के समस्त आदर्श थोथे और अर्थहीन होंगे, यदि हम अपने अतीत और वर्तमान को नंगी आँखों से देखने का साहस नहीं बटोर पाते।

लेकिन 'देखना' कभी सपाट और बेलौस नहीं होता, देखने की प्रक्रिया में चुनने और आँकने का विवेक जुड़ा रहा है। जिस तरह एक व्यक्ति अपनी स्मृति में दुनिया को परखता है, उसी तरह एक जाति अपनी परम्परा की आँखों से यथार्थ को छानती है। परम्परा से मेरा मतलब उतना विश्वासों और अन्धविश्वासों से नहीं है, जितना उस अदृश्य लय से है, जो एक जाति के बहाव, उसकी धारा, उसकी गति को निर्धारित करती है। जिस तरह बहती हुई धारा अपने भीतर एक तरफ आदिस्रोत की मौलिक पवित्रता और दूसरी तरफ अपने लक्ष्य की अन्तिम परिणति—दोनों को समाहित करती है, ठीक उसी तरह एक जातीय परम्परा अतीत और भविष्य दोनों को अपनी जीवन्त धड़कन में पिरोती है। संकट की घड़ी में अपनी परम्परा का मूल्यांकन करना एक तरह से खुद अपना मूल्यांकन करना है, अपनी अस्मिता की जड़ों को खोजना है। हम कौन हैं—यह एक दार्शनिक प्रश्न न रहकर खुद अपनी नियति से मुटभेड़ करने का तात्कालिक प्रश्न बन जाता है।

वह चीज, जिसे हम परम्परा कहते हैं, कोई और चीज न होकर सिर्फ अपने भीतर इस धारा की निरन्तरता का बोध है—अपनी स्थिरता में वह मेरे भीतर आकर बहती है, मेरे भीतर आकर वह पुनः एक नया अनुभव ग्रहण करती है।

वह अपनी तात्कालिकता में शाश्वत है, इसलिए इतिहास से सन्त्रस्त न होकर स्वयं हर ऐतिहासिक घटना का मूल्यांकन करने का साहस और सामर्थ्य रखती है। हम उसकी सम्पूर्णता में सम्पूर्ण हैं—उसे छोड़कर उसके बाहर, हम कुछ भी नहीं।

इसलिए हमें इस भ्रम से छुटकारा पाना होगा कि परम्परा कोई 'अतीत की चीज' है, जिसे हम जैसे-तैसे वर्तमान में ढोकर लाते हैं। वह हमारे भीतर है, इसलिए 'अतीत' का प्रश्न नहीं उठता, हम उसे सोच-समझकर चुनते नहीं; नैसर्गिक रूप से उसका अंग हैं—इसलिए ढोने के साथ जिस विवशता का बोध होता है, वह विवशता हमारी नहीं हो सकती। क्या एक देह अपने अंगों को ढोकर चलती है, या खुद अंग देह को ढोते हैं ? यह गलतफहमी तभी उत्पन्न होती है, जब हम पश्चिम की देखा-देखी में व्यक्ति और परम्परा के बीच भेद देखते हैं, अंगों की इकाई को देह की समग्रता से अलग करते हैं।

अतः हमें भारतीय सन्दर्भ में संस्कृति के प्रश्न पर बुनियादी तौर से पुनर्विचार करना पड़ेगा। हम संस्कृति को उन बिम्बों, प्रतीकों और मिथकों से अलग करके नहीं देख सकते; जो हमारे जीवन के साथ अन्तरंग रूप से जुड़े हैं। इनके माध्यम से न केवल हम अपने को पहचानते हैं, बल्कि ये वह आइना हैं, जिनके द्वारा हम बाहर की दुनिया को परखते हैं। ये बिम्ब और मिथक एक अदृश्य कसौटी हैं, जिनसे हम धर्म और अधर्म, नैतिकता और अनैतिकता के बीच भेद करते हैं। संस्कृति मनुष्य की आत्मचेतना का प्रदर्शन नहीं, उस सामूहिक मनीषा की उत्पत्ति है, जो व्यक्ति को एक स्तर पर दूसरे व्यक्ति से और दूसरे स्तर पर विश्व से जोड़ती है।

संस्कृति का यह भारतीय स्वरूप पश्चिम की सांस्कृतिक धारा से नितान्त भिन्न है। यूरोपीय संस्कृति का आविर्भाव ही व्यक्ति की विकसित आत्मचेतना द्वारा सम्भव हो पाया है। इस आधार पर अकेले व्यक्ति ने यथार्थ का एक निजी, स्वायत्त दर्शन सृजित किया है—एक ऐसा दर्शन जिसकी जड़ें, उसके व्यक्तिगत अनुभव में निहित हैं। दूसरे शब्दों में पश्चिमी संस्कृति का प्रादुर्भाव एक ऐसी खण्डित चेतना में हुआ है, जहाँ मनुष्य अपने को प्रकृति, विश्व और दूसरे मनुष्य से बिल्कुल अलग पाता है और उसे अनुभव होता है कि इस अलगाव और विभाजन को महज धार्मिक आस्था या परम्परा द्वारा नहीं पाटा जा सकता। मध्य-युग के बाद यूरोपीय व्यक्ति को पहली बार यह महसूस हुआ कि धर्म और परम्परा उसे सहारा और सान्त्वना तो दे सकते हैं, किन्तु उसके अन्दरूनी मर्म की गहरी परतों

में नहीं पैठ सकते, जहाँ वह सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है और अपनी स्वतन्त्रता में सम्पूर्ण रूप से अकेला है।

अतः यूरोप में वैयक्तिक चेतना और धार्मिक विश्वासों के बीच एक चौड़ी खाई खुलती गयी, अपनी चेतना में मनुष्य अकेला और निस्सहाय पड़ता गया; जबकि दूसरी तरफ धर्म जीवन-धारा से कटकर केवल चर्च की एकाधिकार 'सम्पत्ति' बनकर रह गया, जिसके सामने व्यक्ति घुटने टेककर अपनी पीड़ा से छुटकारा तो पा सकता था, किन्तु इस धरती पर सम्पूर्ण जीवन की उपलब्धि नहीं।

यूरोपीय संस्कृति का विकास एक तरह से मनुष्य की आत्मा में खिंची इस खाई को पाटने का गौरवपूर्ण प्रयास रहा है। एक ऐसा प्रयास, जिसके जरिये वह अपने अलगाव और अकेलेपन का अतिक्रमण कर सके। इस दृष्टि से समूची यूरोपीय संस्कृति गैर-धार्मिक या सेक्यूलर है; क्योंकि मनुष्य समस्त मूल्यों और मान्यताओं का अन्तिम स्रोत खुद अपनी चेतना में ढूँढ़ता है। धीरे-धीरे यूरोपीय मनुष्य ने अपने को विश्व का केन्द्रबिन्दु, समस्त चीजों का मापदण्ड मान लिया। इस दृष्टि से ईसाई कला भी धार्मिक बिम्बों के बावजूद अपनी मूल प्रेरणा में सेक्यूलर है; क्योंकि एक कलाकार ईसाई धर्म के संस्कारगत प्रतीकों में भी अपने व्यक्तिगत अनुभव ही ढालने की कोशिश करता था (देखिए : रैनेसैन्स कलाकृतियों में मैडोना और शिशु के प्रतीक), और यह अनुभव प्रायः चर्च द्वारा दिये गये परम्परागत अर्थों से बिल्कुल भिन्न होता था। वास्तव में यूरोपीय रैनेसैन्स के उदयकाल में मनुष्य के सेक्यूलर और धार्मिक अनुभवों के बीच एक स्पष्ट विभाजन-रेखा खींच दी गयी। यूरोपीय संस्कृति एक तरफ इस विभाजन का प्रतिबिम्ब थी, दूसरी तरफ इसका अतिक्रमण करने की प्रक्रिया भी। बल्कि यूँ कहें, अतिक्रमण करने की प्रक्रिया में ही आधुनिक यूरोपीय संस्कृति का विकास हुआ था।

इसके विपरीत भारतीय चेतना में इस तरह का कोई विभाजन न था, यह तथ्य उल्लेखनीय है; क्योंकि इसी में भारतीय संस्कृति का विशिष्ट पहलू छिपा है। यहाँ किसी भी समय मनुष्य की धार्मिक अन्तर्दृष्टि और सांसारिक (सेक्यूलर) अनुभवों के बीच विभाजन-रेखा नहीं खींची गयी। मनुष्य अपने सांसारिक कार्य-कलापों का अर्थ धार्मिक प्रतीकों द्वारा उद्घाटित करता था, दूसरी ओर उसके धार्मिक अनुष्ठान उसके दैनिक जीवन के आचार-व्यवहार से जुड़े थे। दूसरे शब्दों में, भारतीय संस्कृति एक समग्र, अखण्डित और सम्पूर्ण चेतना पर आधारित थी। वह सतत रूप से समय में प्रवहमान थी, किन्तु अपने प्रवाह के लिए

इतिहास पर निर्भर नहीं थी। पश्चिमी मनुष्य की तरह वह इतिहास से आतंकित नहीं थी; क्योंकि वह इतिहास को 'परिवर्तन का एजेंट' नहीं मानती थी। भारतीय मनीषा का निर्माण व्यक्ति के ऐतिहासिक बोध द्वारा नहीं, उन मिथकों, प्रतीकों और संस्कारों के संश्लिष्ट प्रवाह में लक्षित होता है, जो इतिहास को नकारते नहीं, केवल उसकी लहरों को अपनी मूल धारा में समाहित कर लेते हैं।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि जिस विशिष्ट अर्थ में हम यूरोपीय सन्दर्भ के 'इतिहास' का उल्लेख करते हैं, जहाँ वह जीवन के विभिन्न मोड़ों को इंगित करता है, उस अर्थ में भारत का कोई इतिहास नहीं है। बाह्य परिवर्तनों के बावजूद भारत की मूल जीवन-धारा में कोई बुनियादी अन्तर नहीं आया है। हम जिस दृष्टि से यथार्थ को देखते आये हैं, जिस ढंग से हमने अपने को काल और प्रकृति से जोड़ा है, मृत्यु के प्रति हमारा जो रुख रहा है, जिससे जीवन के प्रति हमारे रुख का पता चलता है—इन सब में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ है, हालाँकि समय के घेरे में बाहरी यथार्थ बराबर बदलता रहा है। मैं यह बात कोई रहस्यवादी दार्शनिक की तरह नहीं कह रहा हूँ। मैं केवल एक तथ्य की ओर संकेत कर रहा हूँ, जो बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा यदि हम भारत की तुलना में उन बुनियादी परिवर्तनों की ओर ध्यान दें जो पिछले एक हजार वर्षों में यूरोप के मानस और मनीषा में हुए हैं। यूनानी संस्कृति का ह्रास, रैनेसैन्स का उदयकाल, चर्च की प्रभुसत्ता का पतन, औद्योगिक क्रान्ति से आज तक टेक्नोलॉजी का अद्भुत विकास—ये सब इतिहास के वे मोड़ हैं जिन्होंने यूरोपीय मनीषा के 'टेक्सचर' को आद्योपान्त बदल दिया है। एक तरह से देखें तो जिस 'बौद्धिक वैभव' (रीज़न) की शुरुआत यूनानी दार्शनिकों ने की थी, मनुष्य की वर्तमान विभीषिका उसकी तार्किक परिणति है—किन्तु मनुष्य की यह विकृति और यूनानी दर्शन के महान् गौरव के बीच कितना भयानक अन्तर आ पड़ा है!

यदि भारतीय चेतना उपर्युक्त परिवर्तनों से अपेक्षाकृत अछूती रही है तो इसका मतलब यह नहीं है कि इतिहास ने बराबर उस पर अपना दबाव नहीं डाला है। एक तरफ हमारी चेतना की अँधेरी मिथक-जड़ों ने खुद अक्षुण्ण रहकर इतिहास के पानी को अपने ऊपर से बह जाने दिया और दूसरी तरफ व्यावहारिक स्तर पर हमें बराबर बदलते हुए ऐतिहासिक यथार्थ से समझौता भी करना पड़ा है। दरअसल भारतीय 'चरित्र' का निर्माण इन दो पाटों के बीच हुआ है, व्यावहारिक स्तर पर इतिहास को स्वीकार करना और मनीषा के स्तर पर उसके दबाव की नितान्त उपेक्षा करना—इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के बीच हम एक असाधारण सन्तुलन बनाने में सफल हुए थे; क्योंकि इस सन्तुलन

में ही हम अपनी मौलिक अस्मिता को जीवित रख सकते थे। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व कभी यह खतरा उत्पन्न नहीं हुआ कि हमें जीने का मूल्य इस अस्मिता को समर्पित करने में चुकाना होगा।

भारत में अंग्रेजी राज की चुनौती जिन नियतिपूर्ण परिणामों से भरी थी, स्वतन्त्रता के पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान हम थोड़ा-बहुत उसका जायजा लगा सके हैं।

भारत में अंग्रेजी सत्ता महज साम्राज्यवादी शक्ति का ही प्रतीक न थी। वह शक्ति एक नितान्त भिन्न प्रकार की मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करती थी। ये मान्यताएँ एक ऐसी जीवन-पद्धति में सन्निहित थीं (और आज भी हैं), जिसका सीधा सम्बन्ध एक ऐसी विकसित औद्योगिक समाज-व्यवस्था से था, जिसका मुख्य लक्ष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना था। कहना न होगा, यूरोपीय देशों ने अफ्रीकी-एशियाई संस्कृतियों को गुलाम बनाने से पहले खुद प्रकृति को गुलाम बनाना आरम्भ कर दिया था। मैंने ऊपर यूरोपीय मनीषा के जिस अन्दरूनी विभाजन का जिक्र किया था, दरअसल प्रकृति और मनुष्य के बीच विरोध इसी 'खण्डित आत्मा' का ही एक लक्षण है। यदि आज पश्चिम की टेक्नोलॉजी के आतंक और सर्वग्राही त्रास ने मनुष्य को इस तरह ग्रस्त कर दिया है, तो इसकी जड़ें हमें अठारहवीं-उन्नीसवीं शती की 'औद्योगिक क्रान्ति' में देखनी होंगी, जब यूरोपीय मनुष्य ने 'प्रकृति पर विजय पाना' ही विकास का चरम लक्ष्य माना था। अतः भारत में अंग्रेजी राज के विरुद्ध संघर्ष महज राजनीतिक स्तर पर ही नहीं था, उस संघर्ष का एक गहरा महत्त्वपूर्ण साँस्कृतिक पहलू था, जहाँ भारतीय मनीषा की टक्कर सीधी उन यूरोपीय मान्यताओं से होती थी, जिनका प्रतिनिधित्व अंग्रेज शासक करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उस चरण में, जिसे आज हम 'बंगाल रेनेसैन्स' कहते हैं, भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच उपर्युक्त विषय को लेकर एक लम्बी बहस हुई थी और यह बहस केवल बंगाल तक ही सीमित न थी। यह हैरानी की बात है कि इस बहस को हम बहुत-कुछ भूल चुके हैं जबकि आज भारतीय सन्दर्भ में हम कमोबेश उन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं, जिनके नुक्ते हमारे पूर्वजों ने सौ वर्ष पहले उठाये थे।

अंग्रेजी राज ने पहली बार भारतीय बुद्धिजीवियों को आत्म-मन्थन करने को मजबूर किया था। एक चुनौती के रूप में उन्हें यह तय करना था (और बहस के दौरान ये दोनों विकल्प बहुत सफाई से पेश किये गये थे) कि क्या प्रगति

और विकास का रास्ता यही है जो अंग्रेज शासकों ने आदर्श के रूप में उनके सामने रखा है—पश्चिमी लोकतन्त्र की संस्थाएँ, अंग्रेजी शिक्षा और आचार-व्यवहार, औद्योगीकरण और महाजनी सभ्यता का प्रसार—इसी रास्ते पर चलकर आधुनिक बना जा सकता था और आधुनिक बनने की सबसे बड़ी शर्त यह थी कि हम किसी-न-किसी तरह से अपने को यूरोपीय मनुष्य की 'इमेज' में ढाल सकें, एक 'ऐतिहासिक' मनुष्य बन सकें। दूसरा विकल्प इसके बिल्कुल विपरीत था। बल्कि यूँ कहें, वह एक ऐसा रास्ता था, जिसके द्वारा हम उन भूले विकल्पों को ठुकरा सकते थे, जो अंग्रेजों ने हमारे सामने रखे थे। प्रश्न न तो पश्चिम का अनुकरण करने का था, न अतीत से चिपके रहने का—अपने रास्ते को इन दो विकल्पों में बाँटना ही गलत था। मूल प्रश्न यह था कि हम किस प्रकार अपनी संस्कृति और जीवन-पद्धति के उन स्रोतों को अचेतन ढंग से संयोजित करें कि जिससे हम पश्चिम की चुनौती का सामना अपने पैरों पर और खुद अपनी शर्तों पर कर सकें। उन्नीसवीं शती में आधुनिकतावादियों और पुनरुत्थानवादियों के बीच जिस झगड़े का उल्लेख हमारी इतिहास पुस्तकों में किया जाता है, वह वास्तव में नकली और छद्म झगड़ा था—असली द्वन्द्व दो जीवन-पद्धतियों के बीच में था। अंग्रेजी शासन के माध्यम से पश्चिमी सभ्यता मनुष्य, इतिहास और भविष्य के आदर्शों को एक ऐसी जीवन-धारा पर आरोपित करना चाहती थी, जिसे उन 'आदर्शों' की कोई आवश्यकता न थी, जिन्हें बल या प्रलोभन द्वारा भारतीय जीवन पर थोपा तो जा सकता था, किन्तु वे उसकी मनीषा में कहीं फिट नहीं होते थे।

राजा राममोहन राय और उनकी पीढ़ी के उदारपन्थी बुद्धिजीवी इस द्वन्द्व को समझते थे, किन्तु इसे सुलझाने का जो हल उन्होंने चुना, वह एक भ्रामक हल था—वह हमें एक ऐसी दिशा में ले गया, जिसके परिणाम हम आज भुगत रहे हैं। पश्चिमी सभ्यता के 'विकासोन्मुख' आदर्शों के सम्मुख ये बुद्धिजीवी अपने को कहीं बहुत छोटा पाते थे। इस हीन-भाव से अपने को उबारने के लिए उन्होंने समूचे भारतीय अतीत की महिमा को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की। वे विदेशी शासकों के सामने यह प्रमाणित करना चाहते थे कि आधुनिक यूरोपीय मान्यताओं के मुकाबले में उनकी विगत संस्कृति का गौरव भी कम नहीं है। किन्तु वे इन 'आधुनिक यूरोपीय मान्यताओं' के प्रति आकर्षित भी थे, उन्हें उच्चतर सभ्यता का प्रतीक मानते थे, इसलिए उनके सामने अपने को सम्मानित और 'रिस्पेक्टेबुल' सिद्ध करना चाहते थे। बंगाल रैनेसैन्स के बुद्धिजीवी एक ओर वेद-उपनिषदों की दुहाई देते थे, दूसरी ओर जान स्टुअर्ट मिल के सिद्धान्तों को भी स्वीकार करते थे

और अपनी समाज-व्यवस्था पर उन्हें लागू करने के लिए लालायित थे। एक ओर उन्हें अपने अतीत पर गर्व था, दूसरी ओर वे इस गर्व को यूरोपीय मान्यताओं में भुनाकर अपने देश का भविष्य-निर्माण करना चाहते थे।

उन्नीसवीं शती के भारतीय बुद्धिजीवियों के इस अभियान को प्रायः 'समन्वय का अभियान' कहा जाता है। यह ऊपरी और सतही समन्वय तो था ही, बहुत भ्रामक और घातक भी था। वास्तव में आज हम जिसे पश्चिमी-शिक्षित आधुनिक 'एलीट' कहते हैं, उस वर्ग की जड़ें सीधी इस 'समन्वय' से जुड़ी हैं, एक ऐसा वर्ग, जो एक तरफ भारतीय परम्परा का गुणगान करता है, दूसरी ओर अपने आदर्शों और सिद्धान्तों में—अपनी समूची जीवन-पद्धति में पश्चिम की नकल करता है। जान स्टुअर्ट मिल की जगह अब मार्क्स और माओ का नाम अवश्य लिया जाता है, किन्तु तर्क वही है, जो उन्नीसवीं शती में दिया जाता था।

इस तर्क के पीछे हमेशा से एक औपनिवेशिक मनोवृत्ति काम करती रही है—उन्नीसवीं शती में उतनी ही, जितनी आज। यह मनोवृत्ति एक गहरे हीन-भाव और अपनी प्रान्तीय अस्मिता के प्रति अविश्वास-भावना से उत्पन्न हुई है। इसके परिणामस्वरूप हमने अपने अतीत को पुनर्जीवित करने की जरूरत महसूस की, जैसे वह कोई मृत चीज हो, हमसे अलग और बाहर—जबकि एक जाति का अतीत उसकी जीवन-धारा के साथ जुड़ा रहता है, वह भारतीय चेतना की समग्रता में वर्तमान है, दिखाने का अलंकार नहीं; जीने का तत्त्व है, ढोनेवाला बोझ नहीं; प्रवाह की लय में बिंधा एक जीवन्त प्रतीक है, जो इतिहास के फार्मूलों द्वारा नहीं, अपनी प्राण-धारा के मुताबिक अपना भविष्य बनाता है।

और यह चीज मुझे इस औपनिवेशिक मनोवृत्ति के दूसरे पहलू की ओर ले आती है—इतिहास की अनिवार्यता के प्रति अन्धविश्वास। अंग्रेज शासकों ने इतिहास को कसौटी बनाकर भारत में अपनी प्रभुसत्ता, अपनी विकासोन्मुख सभ्यता—यहाँ तक कि संस्कृति और चिन्तन के क्षेत्र में भी अपनी दर्पपूर्ण महानता—साबित करने की चेष्टा की थी। अंग्रेजों का यह दर्प और दावा वास्तव में उन्नीसवीं शती के समूचे यूरोपीय चिन्तन (जिसमें स्वयं मार्क्स का चिन्तन शामिल है) का अंग था। इस कसौटी के आधार पर यूरोप सभ्यता के केन्द्र में था, बाकी एशियाई-अफ्रीकी संस्कृतियाँ अतीतोन्मुख, पिछड़ी हुई, ऐतिहासिक रूप से 'गयी-बीती' जीवन पद्धति का प्रतीक मानी जाती थीं। सभ्यता का यह मिशन और तकाजा था कि इन पतनोन्मुख व्यवस्थाओं का उन्मूलन हो, ताकि वे इतिहास के साथ अपनी 'प्रगति' कर सकें। एक प्रकार से यह तर्क यूरोप और ईसाई धर्म को ही विकास और मानवीय स्वतन्त्रता का पर्याय मानता था।

"भारत का प्राचीन धर्म मृतप्राय हो चुका है। यदि ईसाई धर्म उसकी जगह नहीं लेता तो दोष किसका होता ?"

ये भारत के किसी विरोधी के नहीं, स्वयं मैक्समूलर के शब्द हैं, जो उन्होंने अपने एक पत्र में लिखे थे।

भारतीय अतीत, धर्म, परम्परा और जीवन-पद्धति के बारे में स्वयं मार्क्स का ज्ञान कितना अपूर्ण और सतही था——यह उनके उन पत्रों से पता चलता है जो उन्होंने भारत के बारे में अंग्रेजी-अमरीकी अखबारों में प्रकाशित किये थे। अंग्रेज शासक जिन साम्राज्यवादी उद्देश्यों से प्रेरित होकर भारतीय समाज-व्यवस्था को भ्रष्ट कर रहे थे, इसके बारे में उनका विश्लेषण सही और वैज्ञानिक हैं, किन्तु स्वयं उस व्यवस्था के मूल सांस्कृतिक तत्त्वों के बारे में उनका ज्ञान उतना ही संकीर्ण और पूर्वग्रस्त था, जितना यूरोप के अन्य विक्टोरियन समाजशास्त्रियों का, जो सिर्फ यूरोप की सभ्यता को कसौटी मानकर दुनिया की बाकी संस्कृतियों का मूल्यांकन करते थे।

किन्तु यूरोपीय चिन्तकों की बात अलग रही, स्वयं भारतीय बुद्धिजीवी इतिहास के आतंक से इतना ग्रस्त थे कि वे भारत की मुक्ति और विकास का एकमात्र रास्ता पश्चिम की राजनीतिक, सामाजिक संस्थाओं में ढूँढ़ने लगे थे। वे यह भूल गये कि ये संस्थाएँ चाहे समता और स्वतन्त्रता की दुहाई जरूर देती हों——एक ऐसे औद्योगिक, बुर्जुआ समाज के अंग हैं, जिसका हमारी परम्परागत संस्थाओं से, जीवन-पद्धति और उससे जुड़े विश्वासों से कोई लेना-देना नहीं। यह सही है कि अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन ने इस पद्धति को विकृत किया था (जैसे अमरीकी इण्डियनों या अफ्रीकी जातियों या दुनिया के आदिवासियों के जीवन संस्कारों को यूरोप की व्यावसायिक शक्तियों ने विकृत किया था), किन्तु क्या यह विकृति ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य थी ? यह अद्भुत तर्क होगा कि यदि कोई देश अपने बल-वैभव के आधार पर किसी जाति के धर्मविश्वासों, संस्कारों, जीवन-गति को भ्रष्ट करता है तो हम इतिहास और प्रगति के नाम पर उसे न्यायोचित, अनिवार्य नियम के रूप में स्वीकार कर लें; अपने समूचे भविष्य को एक ऐसे ऐतिहासिक परिवेश में ढालना शुरू कर दें, जो हमारा परिवेश नहीं है, जिसे पश्चिम ने जोर-जबरदस्ती हम पर थोपा है। कितना बड़ा व्यंग्य है कि उन्नीसवीं शती के पश्चिम-शिक्षित बुद्धिजीवियों के समान ही आज के मार्क्सवादी इतिहास के सामने इतने भाग्यवादी बन जाते हैं, सब देवताओं को ठुकराकर अन्त में इतिहास के देवता के आगे घुटना टेक देते हैं।

वास्तव में वर्तमान भारतीय 'एलीट' (वह चाहे दक्षिणपन्थी हो या वाम-पन्थी) की जड़ें उन्नीसवीं शती के बुद्धिजीवियों में पहले से मौजूद थीं, जब उन्होंने 'इतिहास = यूरोप = विकास' जैसे सरलीकृत, भ्रामक फ़ार्मूले को स्वीकार किया था, 'पश्चिम की तथाकथित चुनौती' का सामना करने के बहाने अपने देश की समूची जीवन-धारा को एक ऐसे भविष्य की ओर मोड़ दिया था, जो सिर्फ़ आत्मछलना था। पिछले सौ वर्षों की आत्मछलना में हमारे वर्तमान संकट के बीज निहित हैं। कोई भी भविष्य, चाहे वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो, अपने वर्तमान को विकृत करके नहीं बनाया जा सकता।

जिस दिन हमने इतिहास की लौहवत अनिवार्यता स्वीकार की, उस दिन पहली बार हम 'भविष्य' द्वारा आक्रान्त हुए, आज भी हैं। उन्नीसवीं शती से पूर्व हमारे सांस्कृतिक भावबोध में 'भविष्य' का कोई केन्द्रीय महत्त्व नहीं था। महत्त्वपूर्ण बात है कि केवल यहूदी-ईसाई परम्परा में भविष्य को एक निर्णयात्मक कसौटी बनाकर जीवन को उसके अनुरूप संचालित करने पर जोर रहा है। मसीहा के आने की आशा, 'अन्तिम-निर्णय' की परिकल्पना, धरती पर स्वर्ग स्थापित करने का स्वप्न—ये सब मान्यताएँ भविष्य की आस्था से जुड़ी हैं। वर्तमान केवल आँसुओं का परदा है, सत्य और सम्पूर्णता उस परदे के पीछे है—ईसाई धर्म का यह एक पुराना, मार्मिक विश्वास रहा है।

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि भविष्य के प्रति आस्था अपनी उत्पत्ति में भले ही यहूदी-ईसाई धर्म से जुड़ी हो, किन्तु उसने यूरोपीय भावबोध पर गहरा प्रभाव डाला था। पिछली शताब्दियों में शायद ही कोई यूरोपीय क्रान्तिकारी चिन्तक रहा हो, जिसने एक काल्पनिक भविष्य की मनमानी रचना की हो। स्वयं मार्क्स ने एक ऐसे 'वर्गहीन समाज' की परिकल्पना की, जहाँ कोई उत्पीड़न-शोषण नहीं होगा—और इस दृष्टि से मार्क्स खुद यहूदी संस्कारों से अछूते नहीं थे। यह अलग बात है कि यहूदी सन्त इस भविष्य को 'धरती पर स्वर्ग' मानते थे, किन्तु वह 'स्वर्ग' अपनी सम्पूर्णता और न्यायोचित व्यवस्था में वर्गहीन समाज की परिकल्पना से भिन्न नहीं था। किन्तु मार्क्स ही क्यों, अठारहवीं-उन्नीसवीं शती के तमाम यूरोपीय चिन्तक (एकमात्र नीत्शे को छोड़कर, जो दार्शनिक से कहीं अधिक कवि-दृष्टा थे) इतिहास के भक्त और भविष्य के उपासक थे। यूरोपीय रोमाण्टिक कवियों का रहस्यवाद—खण्डित जीवन का अतिक्रमण करके सम्पूर्णता को उपलब्ध करने का स्वप्न—मार्क्स के ऐतिहासिक रोमाण्टिसिज्म का ही दूसरा पहलू है।

भविष्य के प्रति इस अपार सम्मोहन के पीछे वर्तमान के प्रति एक गहरी अवज्ञा छिपी थी। वर्तमान महज एक माध्यम था, एक सीढ़ी, एक साधन-

मात्र—जिसका अतिक्रमण करके ही भावी स्वर्ग को प्राप्त किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में वर्तमान महज एक भ्रम है, असली यथार्थ भविष्य में सन्निहित है। यदि हम वर्तमान में अनैतिक, मानव-विरोधी आचरण करते हैं, तो उस पर आँसू बहाना एक बुर्जुआ मनोवृत्ति है, एक मध्यवर्गीय कुण्ठा है; क्योंकि भविष्य की सम्पूर्ण नैतिकता हमारी वर्तमान अनैतिकता को हमेशा के लिए धो देगी। कहना न होगा, इस तर्क की परिणति हमें स्तालिनवादी व्यवस्था में मिलती है, जहाँ मनुष्य के भविष्य का निर्माण हुआ है, जिसमें स्वयं मनुष्य के लिए कोई स्थान नहीं।

वास्तव में भविष्य के प्रति दास-प्रवृत्ति अपने में ऐसी मनोवृत्ति है जो हर प्रकार की मानव-विरोधी, अधिनायकवादी व्यवस्था को न्यायोचित ठहरा सकती है। इतिहास की शपथ खाकर मनुष्य को एक काल्पनिक भविष्य का गुलाम बनाना, उसके वर्तमान को घिनौना बनाकर छोड़ देना—हर क्रान्ति का पतन यहीं से आरम्भ होता है। (कला का ह्रास भी यहीं से आरम्भ होता है, किन्तु यह अलग विषय है।) हम इतिहास को साक्षी बनाकर भविष्य का 'आदर्श' गढ़ते हैं, फिर दूसरों को इस आदर्श में फिट करने की कोशिश करते हैं, हम जो हैं, उसे नकारकर हमें जो होना चाहिये, उसके अनुरूप अपने को तोड़ने-मोड़ने की कोशिश करते हैं (जैसे मनुष्य कोई धातु हो) और इस समूची प्रक्रिया में—जिसे हम क्रांति का नाम देते हैं—खुद अपनी अस्मिता, अपनी सांस्कृतिक मनीषा, अपनी जीवन-धारा को इतना विकृत कर देते हैं, कि हम न तो वह रह पाते हैं जो हम हैं, न उसे ही उपलब्ध कर पाते हैं जिसकी खातिर हमने अपने को विकृत किया है। भविष्य की इस मरीचिका के पीछे भागता हुआ मनुष्य स्वतन्त्रता के उस कस्तूरी-सौरभ को भी खो देता है, जो उसके वर्तमान की नाभि में मौजूद है, और जिसे वह नहीं देख पाता।

इस सन्दर्भ में बरबस मुझे अल्बेर कामू के शब्द याद हो आते हैं, "इसकी बजाय कि हम खुद मरकर और दूसरों को मारकर अपने को एक ऐसे मनुष्य में बदलने की कोशिश करें जो हम नहीं हैं, हमें चाहिये कि हम जीवित रहें और दूसरों को जीवित रहने दें ताकि हम अपने को उसमें बदल सकें, जो वास्तव में हम हैं.... भविष्य के प्रति सही उदारता इसी में है कि हम अपना सब कुछ वर्तमान को दे दें।"

पिछले डेढ़ सौ वर्षों से, राजा राममोहन राय से लेकर आज के अधुनातन बुद्धिजीवी तक, हम भविष्य से अभिभूत और आतंकित रहे हैं। हमारी भरसक यह कोशिश रही है कि हम अपनी सामाजिक व्यवस्था को एक ऐसे भावी साँचे में

ढाल सकें, जिसे विदेश में तैयार किया गया है। आश्चर्य नहीं, हम समय-समय पर अपना माडल बदलते रहे हैं, पश्चिमी प्रजातन्त्र; सोवियत संघ, चीन—माडल चाहे जो भी हो, उसके पीछे वही औपनिवेशिक मनोवृत्ति रही है, जो अपने को देखने-पहचानने से घबराती रही है, मुक्ति का रास्ता हमेशा किसी बने-बनाये ताबीज में ढूँढती रही है। हमने कभी भविष्य के प्रति इस अन्धविश्वास पर शंका प्रकट नहीं की। गांधीजी एकमात्र ऐसे अपवाद थे जिन्होंने हमारे इस बौद्धिक आलस्य की कड़ी आलोचना की थी। इन्होंने बार-बार इस सत्य को दुहराया था कि हमारा भविष्य हमारे अतीत से जुड़ा है—और भविष्य और अतीत दोनों ही हमारी जीवनधारा के अंग हैं। यह अनिवार्य नहीं कि पश्चिम की तकनीकी सभ्यता को हम जोर-जबरदस्ती अपने भविष्य पर लागू करें—और जान-बूझकर उन अमानवीय अन्तर्विरोधों के शिकार बनें, जिनसे आज पश्चिमी जगत् (पूंजीवादी और समाजवादी दोनों ही) इतनी बुरी तरह ग्रस्त हैं। मार्क्स ने जो चेतावनी पश्चिमी दुनिया को दी, गांधीजी ने उन खतरों के प्रति हमारा ध्यान वर्षों पहले आकृष्ट किया था।

उस चेतावनी को भूलकर हमने एक ऐसे रास्ते को चुना, जिसका लक्ष्य तकनीकी विकास का एक ऐसा 'पैटर्न' था, जो हम अपनी जीवन-पद्धति पर आरोपित करना चाहते थे। हमारे लिये यह सभ्य, आधुनिक, प्रगतिशील बनने का 'शार्ट-कट' था। हमने इस बुनियादी सत्य को नजरअन्दाज कर देना उचित समझा कि हमारी समाज-व्यवस्था शताब्दियों से अपनी जीवन्त प्रेरणा विभिन्न बहुमुखी स्रोतों से प्राप्त करती रही है, उस पर एक किस्म का 'यूनिफार्म' ढाँचा लादने का मतलब है, उन स्रोतों को ही नष्ट कर देना, जिनसे हमारी जीवनधारा अपनी अस्मिता का 'जल' ग्रहण करती रही है। यह तर्क निराधार है कि औद्योगिक प्रगति के बिना हमारी गरीबी दूर नहीं हो सकती—प्रश्न यह है कि क्या हमने कभी इस प्रगति को अपने देश की जातीय गति से जोड़कर देखा है—या केवल एक ऐसी औद्योगिक प्रगति के माडल को पहली दुकान से खरीद लिया, जो रास्ते में पड़ती थी? गरीब हम पहले भी थे, किन्तु दरिद्र नहीं। यह दरिद्रता और भयानक विपन्नता उस औद्योगिक प्रगति की देन है जहाँ एक तरफ आठमंजिला, पाँचनक्षत्रीय होटल है, दूसरी तरफ स्लम के अँधेरे, सीलन-भरे तहखाने। गरीबी गौरवपूर्ण हो सकती है, यदि उसके सामने भोग-विलास के 'साधन' न हों। जब सब गरीब हों, तो कोई दरिद्र नहीं होता; क्योंकि तब हम अपनी शर्तों पर, अपनी सीमायें पहचानकर वे होते हैं, जो हम हैं, अमीर या गरीब नहीं।

मुझे लगता है, आज वह समय आ गया है, जब हम उन निर्णयों का पुनर्मूल्यांकन करें, जो हमारे पूर्वजों ने डेढ़ सौ साल पहले लिये थे; क्योंकि आज हम जो कुछ हैं, उन निर्णयों के परिणामस्वरूप ही बने हैं। हम उस रास्ते पर हैं, जो उन्होंने अंग्रेजों की चुनौती के सामने चुने थे। हर जाति एक निर्णायक बिन्दु पर पहुँचकर अपने अतीत, अस्मिता और संस्कृति का पुनर्परीक्षण करती है। ऐसे ही प्रश्न, या इसी तरह के प्रश्न उन्नीसवीं शती में रूसी लेखकों और बुद्धि-जीवियों ने अपने से पूछे थे। कुछ वर्ष पहले चेकोस्लोवाकिया-जैसे छोटे देश में भी संकट की घड़ी में, समूची जाति ने अपनी परम्परा को अपने जीने का सम्बल बनाया था, उसके उजाले में वर्तमान के अँधेरे को पहचानने की कोशिश की थी। वह आत्म-मन्थन की घड़ी थी।

आत्म-मन्थन की घड़ी में खामोशी को सहना पड़ता है, ताकि आनेवाले कल में सच्चे शब्द को कहा जा सके।

●

एक महाकाव्य का जन्म

कुबेरनाथ राय

जानता हूँ कि जानी-सुनी बात को पुनः-पुनः सुनना और सुनाना बड़ा ही विरक्तिकर होता है। बासी—गलित-पलित बातें सुनने-सुनाने से विरक्ति ही नहीं, बुद्धिविकार भी घटित हो सकता है। अतः इससे बचना ही ठीक होगा। परन्तु, कुछ बातें ऐसी हैं जिनका संवेदन निःशेष नहीं होता, जिनका अर्थ अमित होता है और जो बहती नदी की तरह वही पुरानी एवं वही परिचिता धारा होते हुए भी क्षण-प्रतिक्षण नयी हैं। एक ग्रीक दार्शनिक का कथन है कि हम उसी नदी में दुबारा हाथ नहीं डालते! नदी वही है, पर क्षण-प्रतिक्षण वह नयी होती जा रही है, उसके कूलों के बीच जो जल बह रहा है वह क्षण-प्रतिक्षण और-ही-और है। कुछ बातों का स्वभाव भी नदी-जैसा होता है। उनका संवेदन, उनका अर्थ और उनका अभ्यन्तर कभी भी विरस और विरक्त, रसहीन और रक्तहीन नहीं होता है। अश्रुतिक्त गोदावरी-तट, निर्मल पम्पा सलिल को पीती थकी सखेद-दृष्टि, शोक कातर अशोक वन, साहसपूर्ण सेतुबन्ध आदि का स्मरण हमें अब भी विरक्त नहीं करता। अब भी रामकथा में उतना ही आनन्द आता है, जितना प्रथम बार पढ़ने-सुनने में आया था। रामायण की प्रत्येक घटना का अर्थ और संवेदन अब भी अक्षय है। हम यहाँ पर ऐसी ही एक अति जानी-सुनी कथा की चर्चा कर रहे हैं। यों हमारा लक्ष्य कथा नहीं, उसके अभ्यन्तर का अनुसंधान है। हो सकता है कि अर्थ का कोई लुक्कायित दाना, कोई अदृश्य या अदर्शित मोती अथवा यदि किस्मत अच्छी रही तो, समस्त समुद्र के आह्वान को हृदय में छिपाये कोई कोने-अँतरे पड़ा उपेक्षित शंख ही हाथ आ जाय। देखा जाय।

बात उन दिनों की है जब तमसारण्य निषादों का आरण्यक बस्ती था। तमसा और गंगा की तटभूमि पर निषाद बस्तियों में आदिमता आरण्यक जीवन का रक्षाकवच धारण करके बैठी थी और वह भय, काम एवं क्षुधा के बीजमंत्र का जाप चुपचाप अरण्य के दुर्गम हृदय में बैठकर, कर रही थी, जब कि बाहर-बाहर शुक्ल और कृष्ण ऋचाओं का महोच्चार चल रहा था और प्रतापी इक्ष्वाकुओं के द्वारा नये संस्कारों का उपवन आरोपित हो रहा था। एक ही भौगोलिक खण्ड के भीतर एक ही देश-काल के मध्य कहीं पर इतिहास रुक कर जड़ीभूत अहल्या हो गया था, तो कहीं पर प्रतिवेश में ही यह रथ पर चढ़कर श्लोक

बोलता हँकड़ता चल रहा था। यों यह कोई अद्भुत बात नहीं। आज भी एक ही गाँव के अन्दर किसी टोले में इतिहास जड़ीभूत प्रस्तर बनकर पर्णकुटी के अन्दर छह हजार वर्षों से सूप बीन रहा है, तो किसी अन्य टोले में वह १८वीं शती में सो रहा है, तो किसी अन्य टोले में वह २१वीं शती का नारा लगा रहा हैं। यही स्थिति उन दिनों जरा बृहत्तर रूप में रही होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि इसी अत्यन्त आदिम और आरण्यक तमसा की तटभूमि पर एक तप्त दुपहरी में जब आसमान तपकर पागल लोहा बन चुका था, एक निषाद-धनुष कपट का वृत्त बनाता हुआ लपका और अचानक मण्डलाकार बन गया तथा उससे एक तीखा बाण उड़ा और मैथुन-रत एक क्रौंच-युग्म को बींधता निकल गया। दूसरे ही क्षण मोहित क्रौंच तड़फड़ाता नीचे गिर पड़ा। धरती त्राहि-त्राहि कर उठी। नदी ने धिक्कार दिया। सूर्य का झरता तेज और तमतमाकर झरने लगा। अरण्य के हृदय में घाव हो गया। सृष्टि मर्माहत हो उठी। हवा हमारे दुःख से स्तब्ध हो गयी। पहले शोक का जन्म हुआ, फिर तुरन्त एक दीप्त क्रोध का। तट पर स्नान के लिये उतरे एक ऋषि के मुँह से मर्माहत और क्रोध दीप्त सरस्वती स्वयं ही छन्द का रूप धारण करके निकल पड़ी। एक बार, दो बार, तीन बार। यही वाणी, बार-बार अनायास निकलती रही :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।

—ओ निषाद, जा तू कभी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करेगा—क्योंकि काम मोहित क्रौंच के जोड़े में से एक को तूने मार डाला है।

यह एक अत्यन्त जानी-सुनी घटना है। इसी घटना से साहित्य में रामावतार सम्भव हो सका। इससे इसका विपुल महत्त्व है। वास्तव में यह प्रसंग रामायण की पूरी 'थीम' का सूचक है। यह एक विशिष्ट प्रकार की तकनीक है जिसका उपयोग शेक्सपियर और कालिदास के नाटकों में किया गया है। रामायण की थीम है 'पौलस्त्य-वध' और इसका सूचक-वृत्त है 'क्रौंच-वध'। सारे महाकाव्य का संकेत इसी वृत्त में निहित है। इस वृत्त को पढ़ते ही शोक और क्रोध का एक मानसिक वातावरण तैयार हो जाता है और वृत्त के संकेत-बीज, जैसे-जैसे महाकाव्य आगे बढ़ता है, अपने अर्थ का विस्तार करने लगते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का सूचक बड़ा ही सटीक बन पाया है। वह अलग से प्रसंग नहीं बल्कि कथा का ही एक अंग है। प्रथम-दृश्य में ही है 'ग्रीवाभंगाभिरामः' दृष्टि-वाला वायु-वेग से भागता भयभीत मृग और पीछे-पीछे रथ दौड़ाता हुआ शरासन ताने राजा दुष्यन्त। शान्त, स्निग्ध, सरल तपोवन और निसर्ग-श्री की आत्मा

को विद्ध करने के लिए नगर संस्कृति का कपट-शरासन उपस्थित हो जाता है। 'शाकुन्तल' का पूर्वार्द्ध पढ़ने पर अनुभव होता है कि शकुन्तला, मृग, आश्रम के लतागुल्म और शुक-सारिका सभी परस्पर अभिन्न हैं। कपट का शरासन जब उपस्थित हो गया है तो मृग भले ही बच निकले, किसी-न-किसी को चोट खानी ही पड़ेगी और बाणविद्ध चाहे जो कोई हो, सम्पूर्ण निसर्ग-सृष्टि ही मर्माहित होगी। इस प्रकार यह सूचक एक बृहत्तर ट्रैजिक संकेत लेकर उपस्थित होता है। शान्त: सरल प्रकृति के हृदय में बाण-जैसे तीखे, निर्मम, धारदार परन्तु आकर्षक और चमकीले नगर-मन का प्रवेश आनेवाली दुर्घटना का काव्य-संकेत है। शेक्सपीयर के नाटकों मे भी इस तकनीक का प्रयोग बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। 'मैकबेथ' का प्रथम दृश्य अत्यन्त छोटा है। पर वह भयावह संकेत से युक्त है। मृतवत्सा वन्ध्या धरती का अशुभ खण्ड और उस पर उतरती हैं तीन डाइनें। देखते-देखते अनुभव हो जाता है कि सारा नाटक अशुभ और प्रेत-आविष्ट चलेगा। दर्शक का मन भी इतना प्रेताविष्ट हो जाता है कि हत्याकारी नर-पिशाच नायक के लिए उसके मन में न्याय-अन्याय भूलकर गहरी सहानुभूति पैदा हो जाती है। शेक्सपीयर के एक अन्य नाटक 'हैमलेट' के अन्दर भी प्रारम्भिक दृश्य इसी भाँति आनेवाली घटना तथा मानसिक वातावरण का घनघोर एवं अव्यर्थ संकेत देता है। ओस-भीगी आधी रात है। हाथ से हाथ नहीं सूझता। इसी काल-मुखी रात्रि में प्रेतों के विहार का क्षण उपस्थित हो जाता है और हैमलेट के पिता का प्रेत महल की छत पर अपनी छाया उपस्थित करता है। प्रारम्भ में पहरेदारों की बातचीत भी बड़ी संकेतमय है। 'ओह, क्या ही ठण्ड है। चूहे तक कहीं सिर छिपाकर पड़े हैं! ओह, मैं भीतर-ही-भीतर बीमार हूँ!' ठण्डी रात, निशीथ क्षण, सुप्त सृष्टि, प्रेत चर्चा और भीतर-भीतर आत्मा की बीमारी का संकेत पूरे नाटक के आनेवाले अर्थ-विस्तार की सूचना दे देते हैं।

रामायण का सूचक कालिदास और शेक्सपीयर के उपर्युक्त सूचकों की तरह मूल घटना का अंग बनकर नहीं आता, परन्तु रामायण-लेखन की प्रक्रिया से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वाल्मीकि ने इस घटना की चर्चा करके रामायण के अर्थ-विस्तार का संकेत-बीज दे दिया है। क्रूर व्याध की भूमिका का विस्तार होता है रावण के चरित्र में। छिन्न-मिथुन क्रौंच हैं रामचन्द्र और सीता। शाप का विस्तार होता है सम्पूर्ण राम-रावण समर में, जिसकी परिणति होती है आततायी के आमूल संहार में। सूचक सिर्फ संकेत भर देता है, वह प्रतीक नहीं। प्रतीक में काव्य-वस्तु और प्रतीक दोनों परस्पर समानान्तर चलते हैं। पर सूचक का काम है संकेत दे देना। क्रौंचयुग्म को राम-सीता का प्रतीक नहीं मान सकते,

क्योंकि रावण द्वारा राम-सीता का विच्छेद-भर घटित होता है, राम की मृत्यु नहीं। सूचक संकेत का बीज देता है, जो कथा-वस्तु की समूची घटना के अन्दर उसकी मूल प्रकृति के रूप में विकसित होगा। रामायण वीर रस का काव्य है और साथ ही करुण रस का भी। रामायण का मूल रस नायक की दृष्टि से करुण रस होना चाहिए। पर महाकाव्य में रस का निर्णय नायक की दृष्टि से नहीं, 'थीम' की दृष्टि से होता है; और 'थीम' है शिव-अशिव का संघर्ष। अतः यह वीर रस का काव्य है। सत्य तो यह है कि रामायण की जड़ें शोक और करुणा में हैं, चाहे वह राम की करुणा हो या सारी सृष्टि की पीड़ा हो। परन्तु उसका पल्लवन वीर रस के आकाश में होता है। धरती के ऊपर-ऊपर तो रामायण वीर रस का महीरुह है; परन्तु भीतर-भीतर उसका मूल, उसके रस का स्रोत करुणा के अतल में है। यद्यपि सीता की अग्नि-परीक्षा के अवसर पर राम निष्ठुर मुख से कहते हैं कि कुल की और अपनी मर्यादा के लिए उन्होंने रावण का वध किया। परन्तु तथ्य तो यह है, और इसे ही रामायणकार आदि से अन्त तक प्रतिपादित करता है कि मर्यादा-बोध के कारण नहीं बल्कि सृष्टि की व्यथा और शोक से पीड़ित होकर उन्होंने रावण से युद्ध ठाना था। सृष्टि को दुःख और पाप के कर्दम से मुक्त करना ही उनके अवतरण का उद्देश्य है। अतः रामायण का उत्स है करुणा और प्रस्फुटन है वीर-रोष, क्योंकि वीर-रोष का ही दूसरा नाम वीरता है। बिना रोष और क्रोध के संघर्ष और युद्ध नहीं हो सकता। क्रौंच-वध का सूचक भी इसी बात का संकेत देता है। क्रौंच-वध के कारण महर्षि ने शोक का अनुभव किया जो करुणा का ही नामान्तर है। और तब उन्हें रोष हुआ और उन्होंने उस रोष को छन्दोबद्ध करके 'मा निषाद प्रतिष्ठां·····' का शाप दे डाला। प्रायः लोग कहते हैं, इन कहनेवालों में हाईस्कूल के अध्यापकों से लेकर महाकवि कालिदास तक आते हैं कि 'शोक ही श्लोक बन गया' ('श्लोकत्वमासाद्यत यस्य शोक'—रघुवंश १४—साहित्य का आदि श्लोक ही करुण रस का श्लोक है आदि-आदि)। परन्तु मुझे यह बात जँचती नहीं। शोक नहीं, शोक से जन्मा 'रोष' ही श्लोक बन गया। यह श्लोक शोकक्रन्दन नहीं, तमतमायी शापवाणी है। श्लोक में शोक कहाँ है ? जो है वह खाँटी रोष, शुद्ध क्रोध। अतः भारतीय साहित्य का आदि श्लोक 'क्रोध' काव्य है। यहाँ शोक के जल में क्रोध का आरक्त तमतमाया कमल फूटा है। इस सीधी-सी बात को अस्वीकार कोई कैसे कर सकता है ? शोक एक स्थितिशील (पैसिव) भाव है। उसे गतिशील संघर्ष में रूपांतरित नहीं किया जा सकता। जिस तरह वारिबूँद से दृढ़ मोती जन्म लेता है वैसे ही शोक-जैसी तरल मनःस्थिति से रोष की दृढ़ प्रतिज्ञा जन्म लेती है। यह पवित्र रोष है। यह पवित्र क्रोध है। यह क्रूरता, परपीड़न-रस या अभिमान-मत्तता से नहीं जन्म

लेता। यदि यह क्रोध न उपजे तो इतिहास बुड्ढा होकर पंगु हो जायेगा, परमा प्रकृति जो इतिहास के मध्य घटित होने वाली क्रान्तियों द्वारा अपना नित्य नवरूपांतर और नवविस्तार कर रही है, यौवन वर्जित हो जायेगी। रामायण की समूची 'थीम' और सूचक का यह श्लोक इसी शोक रूप 'उत्स' और क्रोध रूप 'विस्तार' की सूचना देते हैं।

छंद पाते ही वाल्मीकि स्वयं कहते हैं : 'मुझ शोकाभिभूत के द्वारा उच्चारित यह पादबद्ध तन्त्रीलय समन्वित वाणी श्लोक रूप ही हो अन्यथा न होवे' (सर्ग २)। यहाँ पर 'होवे' अर्थात् 'भवतु' की भाषा कवि स्वयं अपने ही लिये बोल रहा है। कवि स्वयं अपने को अपने अन्दर के देवता का अशीर्वाद दे रहा है। अथवा उससे ऐसी प्रार्थना कर रहा है। यह तथ्य बड़ा ही गम्भीर रहस्य उपस्थित करता है। वास्तव में किसी भी महत् घटना के सम्मुख उपस्थित होने पर लगता है कि मन मूछित हो गया है। यहाँ पर बाल्मीकि का मन मूर्छा या 'ट्रान्स' (Trance) की अवस्था में है। और जो उस मन के ही किसी चक्र या किसी कोष में बैठा है, वह कोई शक्ति है अथवा देवता है, वही कवि को आशीर्वाद दे रहा है। बाद की घटना से अन्दाज लगाया जा सकता है कि वह देवता और कोई नहीं—विधाता, ब्रह्मा, अज, प्रजापति, विराज आदि नामों से जिसे अभिहित किया गया है, वे ही हैं। मन ही देवताओं की पुरी है, मन ही भूतों का अड्डा है। सब तो मन में ही है और हमारे कर्म के अनुसार जब जिसकी बारी आती है, आकर तर्जनी उठाकर शाप दे जाता है या हाथ उठाकर अभय और सौभाग्य दे जाता है। शैली या कथात्मकता का निर्वाह करने के लिए वाल्मीकि ने ब्रह्मा का सशरीर आगमन बताया है। पर उसी स्थल पर ही श्लोक से इशारा मिलता है कि वाल्मीकि स्वयं ही ध्यान-योग के अन्दर ब्रह्मा से वार्ता कर रहे हैं। ब्रह्मा का आगमन बाह्य-जगत् में नहीं, उनके ध्यान-जगत् में ही घटित होना अधिक जँचता है। लोक-पितामह ब्रह्मा को आसन देकर वाल्मीकि ध्यान-योग में चले जाते हैं और क्रौंच-वध की घटना का पुनः-पुनः चिन्तन करते हैं एवं शाप के श्लोक की पुनः-पुनः मन-ही-मन आवृत्ति करते हैं। तत्पश्चात् ब्रह्मा के आदेश से वे रामकथा रचना में प्रवृत्त होते हैं।

> मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती।
> रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरुत्वमृषिसत्तम।
> धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः।
> वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्।

—ओ ब्राह्मण, मेरे अभिप्राय के अनुसार ही तेरे मुख से सरस्वती निकली है। तुम रामचरित का गान करो। जैसा कि तुमने नारद के मुख से सुन रखा है। वैसे ही धर्मात्मा श्रीमान् धीर भगवान् राम के चरित का वर्णन करो।

ब्रह्मा या प्रजापति एक दार्शनिक प्रतीक है जो 'बुद्धि' या 'विश्वप्रज्ञा' (कॉस्मिक इण्टेलिजेन्स) का प्रतिनिधित्व करता है। 'अहंकार शिव बुद्धि अज मन शशि चित् महान्' सांख्य दर्शन के अनुसार 'व्यक्ति मन' (मानस) से भिन्न और व्यक्ति मन की उत्पत्ति से बहुपूर्वा परमा प्रकृति का एक आदि रूप है जिसे 'बुद्धि' या 'महत' जो विश्वव्यापी प्रज्ञा (युनिवर्सल रीजन या कॉस्मिक इण्टेलिजेन्स) का ही पर्याय है, कहते हैं। इससे जन्म होता है अहंकार का। व्यक्तित्व की भिन्नता का यही कारण है। पर 'बुद्धि' निर्वेयत्तिक सत्ता है। और प्रत्येक व्यक्ति के 'मन' नामक निराकार, अरूप इन्द्रिय में यह स्थित है और साथ ही उसके बाहर भी। एक स्थूल उदाहरण लें। एक बड़ी कड़ाही में चाशनी रखी है। उसमें रसगुल्ले, खीरमोहन, गुलाबजामुन, जलेबी—और मान लें कि तली हुई मिर्च भी—डाले गये हैं। प्रत्येक के अन्दर चाशनी का रस आ गया है। पर प्रत्येक के अन्दर चाशनी का रस भिन्न स्वाद का, भिन्न व्यक्तित्व का लगता है, यद्यपि है वह एक ही रस—जो बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे व्याप्त किये हुए हैं। ब्रह्म-सत्ता और परमा प्रकृति की निर्वैयक्तिक स्थितियाँ, जैसे बुद्धि आदि, भी इसी चाशनी की तरह हैं। यह विश्वव्यापी प्रज्ञा है। इसका प्रतीक है प्रजापति, विराज या ब्रह्मा। तीनों शब्दों का पौराणिक अर्थ एक ही है। उपनिषदों में ऐसी कथायें हैं जब देवता-असुर-मनुष्य प्रजापति या विराज के पास जाकर प्रज्ञा ग्रहण करते हैं और अर्थ का साक्षात्कार करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में इन्द्र और दैत्यराज विरोचन इसी विराज या प्रजापति के पास आत्मा की जानकारी के लिए जाते हैं। वृहदारण्यक में देव-दानव और मनुष्य इसी सत्ता से 'द' का उपदेश ग्रहण करते हैं और इस उपदेश की अपने-अपने 'अहंकार' या व्यक्तित्व' के अनुसार अर्थ लगाकर कार्यान्वित करते हैं। भोगी देवताओं के लिए 'द' का अर्थ ठहराता है 'दम', दानवों के लिए क्रूर स्वभाव के ही उपयुक्त इस 'द' का अर्थ होता है 'दया' और लोभी मनुष्य के लिए इसका अर्थ होता है 'दान'। 'दम्यत्', 'दयध्वम्' और 'दत्त'। कहने का तात्पर्य यह कि ब्रह्मा को विश्वप्रज्ञा या बुद्धि का प्रतीक माना गया है जो निर्वैयक्तिक सत्ता है। यह व्यक्तिमनस् में प्रवेश करके भी उसका सम्बन्ध निरन्तर व्यक्ति को अतिक्रान्त करके अनन्त और असीम सत्ताओं से जोड़ा करती है।

भारतीय साहित्य में बुद्धि का प्रतीक है ब्रह्मा, अहंकार का प्रतीक है शिव और अहंकार के शीश पर व्यक्तिगत 'मनस्' नामक इन्द्रिय का प्रतीक है चन्द्र।
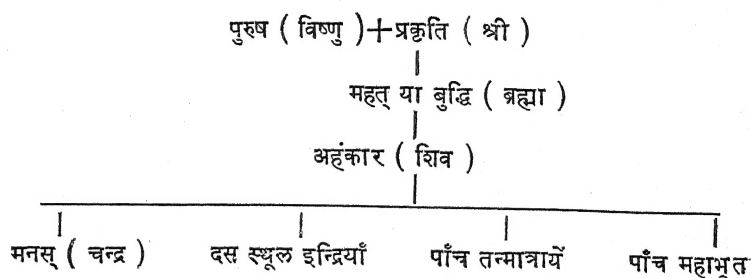
सांख्य दर्शन के अनुसार रचनात्मक भूमिका 'महत्' या बुद्धि ही लेती है जो परमा प्रकृति का ही प्रथम सूक्ष्म विस्तार है। जो कुछ सूक्ष्म भावात्मक रचना सम्भव होती है, वह व्यक्ति का 'अहंकार' (सेल्फ) नहीं करता बल्कि उसके भीतर स्थित 'बुद्धि' ही करती है। ब्रह्मा ही इस 'बुद्धि' का प्रतीक है। महर्षि वाल्मीकि मन के उस स्तर को जाग्रत करके जहाँ यह बुद्धि स्थित है ब्रह्मा से साक्षात्कार कर रहे हैं, उससे आदेश और आशीर्वाद ले रहे हैं। यह एक सूक्ष्म भाव-जगत् में घटित होने वाली घटना है। पर वाल्मीकि ने इसे स्थूल कथा या 'मिथ' का रूप देकर लोगों को समझाने की चेष्टा की है कि ब्रह्मा हंस पर चढ़कर उनके आश्रम पर पधारे और उन्हें उपदेश देकर चले गये। वास्तव में सारा व्यापार भीतर-भीतर घटित हुआ है।

यहाँ पर मुझे स्मरण आता है एक प्रसंग। इसका उल्लेख 'स्टेला क्रैमरिश' की पुस्तक 'इण्डियन आर्ट' के प्रारम्भ में ही है। एलोरा के कैलाश मन्दिर की रचना करके उसका मुख्य स्थपति अपनी ही कृति पर स्वयं मुग्ध एवं भावविभोर हो गया और उसे आश्चर्य हुआ—इसे मैंने बनाया है?' यह भाव उसे रह-रहकर चकित करने लगा। 'इतना सुन्दर मैंने कैसे रच दिया?' वह चिन्ता में पड़ गया। चिन्ता करते-करते उसने निष्कर्ष निकाला कि वह भूल कर रहा है। 'इसे मैंने कहाँ बनाया? मैं कैसे बना सकता हूँ?' सृजनक्रिया 'अहंकार' या जीवात्मा की 'व्यक्ति सत्ता' द्वारा होना असम्भव है। जो सृजन होता है वह मन की निर्वैयक्तिक अवस्था में होता है, और उस शक्ति के द्वारा होता है जो अहंकार के अस्तित्व के पूर्व का स्तर है। उसे भगवान् कपिल ने 'बुद्धि' कहा है। अतः परमा प्रकृति के महद् रूप अर्थात् बुद्धि ने ही यहाँ पर भी सारी शिल्प-रचना को सम्पन्न किया है। मेरी या मेरे अहंकार की सिर्फ यह अभिमान कर लेने के अतिरिक्त कि मैं रच रहा हूँ,

इस सृजनक्रिया में और कोई भूमिका ही नहीं रही है। स्थपति ने मर्म का सही उद्घाटन किया है। किसी भी रचना का भावात्मक मूल रूप (फॉर्म) अथवा किसी ज्ञान का बीज सदैव अन्तर्दृष्टि द्वारा इसी परमा प्रकृति के दान के रूप में ग्रहण किया जाता है। वाल्मीकि और ब्रह्मा का साक्षात्कार इसी तथ्य का एक स्थूल और कथात्मक रूपान्तर है। बाहर एक निर्मम घटना घटी, काममोहित क्रौंच का वध। इससे बाल्मीकि का मन इतना शोकाभिभूत हुआ कि वे व्यक्तिसत्ता को भूल गये और निर्वैयक्तिक मनःस्थिति में उनकी बुद्धि का चैतन्यमय स्तर जाग्रत हो गया और उससे प्रथम निकला उच्छ्वास की भाँति एक रोषदीप्त श्लोक। और, फिर उस उच्छ्वास के स्तर से भी ऊपर उठने पर उनके मन में धीरे-धीरे राम-कथा का पूरा 'फॉर्म' उदित हुआ और उस लोकोत्तर मनःस्थिति से ध्यान-योग की दृढ़ समाधि के मध्य बुद्धि या विश्व-प्रज्ञा ने उन्हें आशीर्वाद देकर उक्त 'फॉर्म' या रूप को छन्दोबद्ध वाणी प्रदान करने का आदेश दिया। यही है रामायण के जन्म की मनोवैज्ञानिक पूर्वभूमि।

प्रमुख समीक्षा ग्रंथ

काव्यशास्त्र

डा० भगीरथ मिश्र ३०.००

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

डा० भगीरथ मिश्र ४०.००

नवस्वच्छंदतावाद

डा० अजय सिंह ५०.००

आलोचक का दायित्व

डा० रामचन्द्र तिवारी २०.००

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डा० रामचन्द्र तिवारी ३०.००

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलोचना कोश

डा० रामचन्द्र तिवारी ५०.००

जनवादी समझ और साहित्य

डा० रामनारायण शुक्ल ३५.००

साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद

डा० बच्चन सिंह २५.००

नवलेखन समस्याएँ और संदर्भ

डा० श्यामसुन्दर घोष १५.००

अज्ञेय की गद्य-शैली

डा० साबित्री मिश्र ५०.००

मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य

डा० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव १२०.००

पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव

डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा १५.००

निराला की काव्य भाषा

डा० शकुन्तला शुक्ल ५०.००